सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का उनतीसवाँ रत्न

अस्तेय-दर्शन

प्रवचनकार

कविरत्न पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज

सम्पादक

पण्डित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, न्याय-तीर्थ

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

प्रकाशक—

सन्मति-ज्ञान-पीठ

लोहामण्डी, आगरा।

सम्वत् २०११
सन् १९५४
मूल्य १॥)

मुद्रक—
पं० नागेन्द्रनाथ शर्मा गोस्वामी,
दी कौरोनेशन प्रेस,
फुलहट्टी बाजार, आगरा।
फोन नं० १७१

प्रकाशकीय

साधु-महा सम्मेलन की पूर्व भूमिका के रूप में, सम्प्रदाय-गत् वैमनस्य और विरोध के उपशमन हेतु, बम्बई स्थित स्थानकवासी जैन महासभा के आग्रह से तथा विशेषतः ब्यावर संघ की अत्यन्त भाव भरी प्रार्थना से (तत्कालीन उपाध्याय) श्रद्धेय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज आगरा से देहली होते हुए उग्र विहार करके ब्यावर पधारे, चातुर्मास के लिए।

कवि श्री जी स्थानकवासी समाज के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और विचारक तो हैं ही, परन्तु प्रवक्तृत्व गुण भी उनमें सहज रूप में ही विद्यमान है। आपके प्रवचनों में वस्तु का दार्शनिक रूप से सूक्ष्म विश्लेषण होते हुए भी सरसता और मधुरता पर्याप्त रूप में रहती है। श्रोता कभी ऊबता नहीं है। और यही है, प्रवक्ता के प्रवचनों की सफलता, जिसमें कवि श्री पूर्णतः सफल और सिद्ध हस्त हैं।

अस्तु, राजस्थान में यद्यपि कवि श्री जी नए ही थे, परन्तु उनके प्रवचनों की सरलता, मधुरता, स्पष्टता तथाच हृदय-ग्राहिता ने श्रोताओं को सहसा रसमुग्ध कर दिया। अतएव ब्यावर संघ ने प्रवचनों के रूप में बहती हुई अखण्ड वाग्धारा को लिपिबद्ध कराने का शुभ संकल्प किया, जिसका सुफल प्रस्तुत पुस्तकों के रूप में जनता के सामने है।

पाठकों के समक्ष, कवि श्री जी की उक्त ब्यावर-प्रवचन माला में से 'अहिंसा-दर्शन' 'सत्य-दर्शन' और 'जीवन-दर्शन' के रूप में तीन

पुस्तकें पहुँच चुकी हैं। अब हमें 'अस्तेय-दर्शन' के रूप में यह चौथी पुस्तक भी पाठकों के सम्मुख रखते हुए महान हर्ष हो रहा है।

कवि श्री जी के प्रवचनों में आप अहिंसा, सत्य और जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ जीवन तत्व प्राप्त कर सके होंगे ? आशा है, अब पाठक 'अस्तेय' के सम्बन्ध में भी आगम-परम्परा पुरःसर नया दृष्टिकोण पढ़ कर अपने जीवन की बहुत-सी उलझी हुई समस्याओं को सुलझा सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करके पाठक समझ लेंगे कि 'अस्तेय' क्या है ? और जीवन में इस महा पाप से कैसे बचा जाए ! काला बाज़ार और घूंसखोरी से जन-जीवन को क्य क्षति पहुँचती है ? मानव 'अस्तेय-व्रत' की आराधना करके स्तेय-वृत्ति से कैसे बच सकता है ? अपने जीवन को प्रामाणिक रखते हुए वह जन जीवन को कैसे सुधार सकता है ? आदि समस्याओं का दार्शनिक दृष्टि से उचित समाधान, पाठक, इस में पा सकेंगे।

रतनलाल जैन भीतल,
मंत्री, सन्मति-ज्ञान-पीठ,
आगरा।

विषय-सूची

अतुल-सुख-सिद्धि-हेतोर् ,

धर्मयशश्चरण-रक्षणार्थं च ।

इह-पर-लोक-हितार्थं,

कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम् ॥

—आचार्य शुभचन्द्र

हे भव्य आत्माओ ! यदि तुम अनुपम आत्म-सुख प्राप्त करना चाहते हो, धर्म, यश, एवं चरित्र-सम्पत्ति की रक्षा करना चाहते हो, और लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपना हित-साधन करना चाहते हो, तो कभी भूलकर मन में भी चोरी को प्रश्रय-स्थान न दो ।

अस्तेय-दर्शन

अस्तेयव्रत की भूमिका

अहिंसा और सत्य के बाद अस्तेय का नम्बर आता है। अस्तेय का अर्थ है, अचौर्य। आप जानना चाहेंगे, अचौर्य क्या है ? अचौर्य का सीधा-सादा अर्थ है, चोरी न करना। बिना आज्ञा के किसी की कोई भी वस्तु न लेना।

अस्तेय की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में सब से बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि जो साधक साधना के क्षेत्र में उपस्थित हुआ है, उसके मन में अहिंसा और सत्य की सुगन्ध भरी होनी चाहिए। वह अहिंसा और सत्य किस प्रकार सुरक्षित रह सकते हैं और किस प्रकार उनके द्वारा हम अपना और समाज का भी कल्याण कर सकते हैं, यह इस प्रतिज्ञा की मूल भावना है। इसके लिए बहुत बड़े चरित्रबल की आवश्यकता है। जब तक चरित्र-बल उत्पन्न

नहीं होगा और आन्तरिक जीवन में उल्लास और भावना की जागृति नहीं होगी, तब तक कोई भी नियम जीवन में गति नहीं दे सकता। वह अन्तःस्फुरणा, जो पैदा होनी चाहिए, नहीं हो सकेगी और उस व्रत या प्रतिज्ञा में जो प्रकाश और चमक आनी चाहिए, नहीं आ सकेगी।

अक़सर देखते हैं, नियम तो ले लिया है, व्रत भी अंगीकार कर लिया है और प्रतिज्ञा भी ग्रहण कर ली है, और सब-कुछ हो गया है, किन्तु यह सब-कुछ होने पर भी ऐसा मालूम होता है कि कुछ भी नहीं हुआ है! क्या बात है कि हम चलते हुए तो दिखाई देते हैं, किन्तु जब अपनी गति को नापना चाहते हैं तो एक इंच भी गति बढ़ती हुई दिखलाई नहीं देती।

साधु भी चलता है और गृहस्थ भी चलता है, और निरन्तर पचास-साठ वर्षों तक, यह चलना जारी रहता है, किन्तु जब इतने लम्बे काल की गति को नापते हैं और विचारों की दृष्टि से ठीक तरह समझना चाहते हैं तो ऐसा मालूम नहीं होता है कि हम कुछ चले भी हैं! जीवन में कोई विकास और प्रगति हुई नहीं दीखती है।

आख़िर इसका मूल कारण क्या है? हमें इस प्रश्न पर गंभीर भाव से विचार करना चाहिए।

बात यह है—एक होता है बाह्याचार और दूसरा होता है आन्तरिक आचार। जैन-धर्म ने जब इस प्रकार आचार की व्याख्या की तो मानव के अन्तर्जीवन और बाह्य-जीवन को

ध्यान में रखकर की। मनुष्य का वाह्य-जीवन आप सब के सामने है, अतः उसे अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्तर्जीवन मानव का निगूढ़तम भाव है, जिसकी जानकारी साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्जीवन अपने इस दृश्य पिण्ड की आड़ में अदृश्य है, छुपा हुआ है और वहीं हज़ारों भाव-सृष्टियाँ बनाता है और बिगाड़ता है। सृष्टि और प्रलय का उसका यह व्यापार बाहर नहीं दिखलाई देता।

हाँ, तो इस आन्तरिक जगत् में जब तक साधना की भावना नहीं पनपती और ग्रहण किये हुए व्रत या नियम के लिए ठीक तरह चरित्र का बल उत्पन्न नहीं होता तो बाहर के व्रतों और नियमों का क्या मूल्य है? बाहरी व्रत और नियम तो आन्तरिक आचार को रक्षा के लिए हैं, अन्दर की रक्षा के लिए चहार-दीवारी हैं।

अपने आप में जो दीवारें खड़ी हैं, वे मिट्टी और पत्थर के रूप में खड़ी हैं। यदि उनके अन्दर कुछ भी नहीं है, रिक्तता है, कोई व्यक्ति नहीं है, केवल दीवारें ही दीवारें हैं, तो उनका अपना क्या मूल्य है? दीवारों का मूल्य तभी है, जब वहाँ सम्पत्ति विखरी हो और आदमियों की चहलपहल हो। इनकी रक्षा के लिए ही दीवारें खड़ी की जाती हैं और दरवाज़ों पर ताले लगाये जाते हैं। यही उन दीवारों की सार्थकता है।

तो जो बात आप यहां समझ जाते हैं, वही जीवन के सम्बन्ध

में भी समझ लेना चाहिए। जीवन में, अन्दर में, अहिंसा और सत्य के रत्न बिखरे हुए होने चाहिए। जितनी जीवन की साधनाएं हैं, उनमें एक से एक बहुमूल्य गुण होने चाहिए। उनकी रक्षा के लिए ही बाहर के क्रियाकाण्ड की दीवारें हमें खड़ी करनी हैं। जीवन में यदि तत्त्व है, सत्य है और अन्दर में चारित्र बल है, आध्यात्मिक बल, आध्यात्मिक ऐश्वर्य और आध्यात्मिक साम्राज्य है, तो उनकी कुछ भाव-भंगियाँ, ठीक-ठीक रूप में, हमारे आन्तरिक जीवन की रक्षा करेंगी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्दर का घर ख़ाली है, अन्दर में कुछ भी नहीं है, किन्तु बाहर बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी हैं! सिवाय वहम के, घर में कुछ नहीं होता।

इसी प्रकार अन्दर में यदि चरित्रबल है और बाहर में व्रत, नियम, उपवास आदि हैं तो वे बहुमूल्य होंगे। मैं उनकी क़ीमत कम नहीं करना चाहता हूँ। वास्तव में वे बहुमूल्य हैं, किन्तु काम तभी देंगे, जब आन्तरिक चारित्रबल प्रबल होगा।

एक साधारण-सी साइकिल की भी गति-क्रिया होती है और सैकड़ों मील की यात्रा करती चली जाती है। उसके ऊपर आदमी बैठ जाता है और वज़न भी रहता है। वह सब को लेकर चलती है। लेकिन यह होता तभी है जब उसके भीतर ट्यूब में हवा भरी होती है। अन्दर में हवा की शक्ति न हो तो वह गाड़ी चलती नहीं, खड़ी हो जाती है। यदि उसे चलाएँगे तो वह आप को लेकर नहीं चलेगी, आपको घसीट कर चलानी पड़ेगी। जब

पंचर हो जाता है, तो हवा समाप्त हो जाती है, और फिर उसे स्वयं घसीट कर चाहे कितनी ही दूर क्यों न ले जाएँ, किन्तु उस में स्वयं चलने की शक्ति नहीं है।

हमारे जीवन की गाड़ी का भी यही हाल है। यदि उसमें अन्दर को साधना है, चारित्र का बल है, तो जीवन ठीक तौर से आगे चलेगा, अग्रसर होगा और हम अपने लक्ष्य पर पहुँच जाएँगे। और यदि अन्दर को शक्ति क्षीण हो जाय, अन्दर का चारित्र-बल रूप पवन निकल जाय, या हो ही नहीं, तो साधुपन और श्रावकपन को घसीटते-घसीटते ले जाना पड़ता है। वह साधक आगे नहीं बढ़ सकेगा। उसकी साधना भार बन जाएगी और उसे चाहे कितने ही वर्षों तक ढोना पड़े, वह भारस्वरूप ही बनी रहेगी। वह तुम्हें नहीं ढोएगी, तुम्हें ही उसे ढोना पड़ेगा।

तो आध्यात्मिक जीवन की जो परम्परा है, साधना है, वह आत्मदेवता के प्रति वफ़ादार होना चाहिए, जो कि हमारा मूल जीवन है। साराँश यह है कि जब तक हम अन्दर में रहते हैं, तब तक गति करते हैं, अन्यथा नहीं।

प्रत्येक धर्म के प्रवर्त्तक कुछ रोशनी लेकर आगे बढ़े हैं। उस रोशनी के विषय में, बंगाल के एक अध्यात्मवादी संत बाउल कहते हैं—हरेक धर्म-प्रवर्त्तक आचार और विचार की जलती मशाल लेकर आगे बढ़ता है और अंधकार में भटकती हुई प्रजा, जिसको राह नहीं मिल रही है, उसके पीछे हो लेती है और अपना मार्ग

तय करती है। जब उसका जीवन समाप्त हुआ तो उसने वह मशाल अपने शिष्य को दे दी और शिष्य आगे बढ़ा। मगर दुर्भाग्य से क्या हुआ, संत वाउज़ कहते हैं कि शिष्य के हाथों में दी हुई मशाल बुझ गई और क्रिया-काण्ड के खाली डंडे ही शिष्यों के हाथ में रह गये हैं। उनमें रोशनी नहीं है। वे ख़ुद भी अंधकार में ठोकरें खा रहे हैं और उनके पीछे की भीड़ भी ठोकरें खा रही है।

उस मार्मिक संत की कही हुई बात जब हम पढ़ते हैं या सुनते हैं तो हमारे मन में भी यही विचार आता है कि वास्तव में समाज की स्थिति ऐसी ही बन गई है। आज अहिंसा और सत्य की मशालें हाथों में अवश्य हैं, किन्तु वे बुझी हुई मशालें हैं—खाली प्रकाशविहीन डंडे मात्र हैं। यही कारण है कि हमारे जीवन में कोई प्रगति नहीं हो रही है। आगे आने वाली प्रजा को कोई रोशनी नहीं मिल रही है और सब टक्करें खा रहे हैं।

समय-समय पर साधु-समुदाय एकत्र होता है और साधु-समाचारी का निर्माण किया जाता है। लम्बे-चौड़े वाद-विवाद होते हैं कि साधुओं को जीवन में किस प्रकार चलना चाहिए और किस प्रकार नहीं चलना चाहिए। समाचारी बनाने के लिए समाज के अन्यतम सेवक के नाते मुझे भी उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। मैंने देखा कि नियमोपनियमों की लम्बी-चौड़ी धाराएं बनाई जा रही हैं और सप्ताह के सप्ताह लगाये

आ रहे हैं, तो कहना पड़ा कि नया शास्त्र कहाँ से तैयार कर रहे हैं? आखिर हमें विरासत में जो प्राचीन शास्त्र मिले हैं, उनमें यह सब-कुछ तो लिखा हुआ है। सचाई यह है कि आज समाचारी बनाने की नहीं, बल्कि उस पर चलने वालों की आवश्यकता है। शास्त्र तो पुकार रहे हैं कि सब हमारे अन्दर है। नयी क़लमें नहीं बन सकतीं। आचार और विचार की कौन सी बात शास्त्रों में मौजूद नहीं है? परन्तु उन पर चलने वाले कहाँ हैं? अगर चलने वाले हैं तो अकेला दशवैकालिक भी ऊंचाई पर पहुँचा देगा और आचारांग भी पहुँचा देगा।

तो असली बात विधान बनाने की नहीं, उस पर चलने की है। जो विधान पर हस्ताक्षर करते हैं, वही जब जीवन में लड़खड़ा जाते हैं, तब स्वभावतः यह विचार होने लगता है कि चारित्र का जो बल अन्दर से आना चाहिए था, वह नहीं आ रहा है। जब अन्दर में ज्योति जागृत नहीं होती, तो बाहर के नियम कभी-कभी हमको दंभ की ओर ले जाते हैं, और वे अंधकार में और गहरा अंधकार करने को तैयार रहते हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने जीवन के ही चारों ओर अंधकार नहीं करते, दूसरों को भी अंधकार में निमग्न कर देते हैं। उस समय वह सहज भाव, अपने आप में चलने का भाव, पैदा नहीं होता और ऐसी-ऐसी क़लमें तैयार कर लेते हैं कि स्वयं तैयार करने वालों से भी उनका पालन नहीं होता और न दूसरों से उनके पालन कराने की संभावना होती है। ऐसी दशा में फिर गड़बड़

में पड़ते हैं और तब माया में से माया चल पड़ती है। शास्त्रों के पन्ने पलटे जाते हैं और पलटने का उपदेश दिया जाता है, मगर इस बात का कोई ख़याल नहीं किया जाता कि अन्तर में पशुत्व-भावना पैदा होती जा रही है !

शास्त्रों में नरक-गति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्य-गति और देव-गति के जो कारण बतलाये गये हैं, वे इसी जीवन में होते हैं। इस जीवन में अगर पशुत्व भावना पैदा हो गई है तो आगे चल कर पशु की ही योनि मिलने वाली है। और यदि देवत्व का भाव आया है तो देवगति मिलने वाली है।

माया तैर्यग्योनस्य।

—तत्त्वार्थसूत्र

माया तिर्यञ्चगति का कारण है, अर्थात् पशुत्व की ओर ले जाती है। माया पशुत्व को उत्पन्न करने वाला चक्र है। इस प्रकार आगामी जीवन के अनुरूप वृत्ति यहीं उत्पन्न हो जाती है। आगे जो गधा या घोड़ा बनना है, सो वास्तव में तो यहीं बनना है। जब मनुष्य के शरीर में ही पशुत्व भावना उत्पन्न हो जाती है तो मनुष्य उसी रूप में, उसी शरीर में ही उत्पन्न होता है।

अभिप्राय यह है कि आन्तरिक चारित्र बल के अभाव में दंभ एवं मायाचार बढ़ता है और वह मनुष्य को पशुता की ओर ले जाता है। दंभी मनुष्य अपने प्रति वफ़ादार नहीं रहता और जब वफ़ादार नहीं रहता तो दंभ इतना ऊँचा चलता है

कि कुछ ठिकाना नहीं ! अन्दर में कुछ भी नहीं होता और बाहर में सभी कुछ दिखलाया जाता है।

इस प्रसंग में बौद्धसाहित्य की एक घटना याद आ जाती है, जो साधक के लिए विचार की चीज़ है।

एक सेठ बड़ा धनवान् और वैभवशाली था। उसके यहां एक संत आये। वे सेठ से बोले—"मुझे आपके यहां चातुर्मास करना है। चौमासे का समय आ गया है, अब मैं कहाँ जाऊँगा ? थोड़ी-सी जगह दे दो तो यहीं चौमासा गुज़ार दूँ।"

सेठ ने कहा "भगवन् ! आपके लिए किस चीज़ की कमी है ? आप पधारे हैं तो आपको जितनी जगह चाहिए, उतनी ही मिलेगी। यह मेरा भवन है, आप कहें तो इसमें कमरे खाली कर दूँ ?"

आगन्तुक सन्त ने अध्यात्म का राग छेड़ दिया। कहा "सेठ ! यह सब वैभव हमारे लिए किस काम का ? हम तो इसमें गल जाएँगे। हमारे लिए तो घास-फूस की झौंपड़ी चाहिए। संतों के लिए वही बड़ी चीज़ है। हमें महलों से क्या प्रयोजन है ? महल में तो आध्यात्मिक जीवन सड़-गल जाता है।"

यह सुन कर सेठ के मन में सन्त के प्रति श्रद्धा और बढ़ गई। उसने कहा "आपका विचार प्रशस्त है। मेरे महल के एक किनारे एक छोटी-सी झौंपड़ी भी है, आप उसमें विश्राम कीजिए।"

संत ने झौंपड़ी देख ली और तब कहा "हाँ, यह ठीक है।"

वे उस झोंपड़ी में ठहर गये। सेठ जब कभी उनके पास जाता, वे अध्यात्म को बड़ी-बड़ी बातें करते। इस प्रकार उन्होंने अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया।

उस समय डाकेजनी होने लगी और बड़े-बड़े मालदारों का धन लूटा जाने लगा। जब इस प्रकार की घटनाएँ अधिक होने लगती हैं, तो स्वभावतः भय की भावना भी फैल जाती है। उस सेठ को भी भय ने घेर लिया। उसने विचार किया, कहीं डाकुओं की क्रूर दृष्टि मुझ पर भी न पड़ जाय! तब क्या करूँ, क्या न करूँ? सोचते-सोचते उसे एक उपाय सूझ गया।

सेठ के पास जो भी हीरे, जवाहर, अलंकार, आभूषण आदि थे, उन सब की उसने एक पोटली बाँधी और पोटली को लेकर झोंपड़ी में आया। संत से कहा, "महाराज, जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है, अतः यह पोटली आपके यहाँ रख देता हूँ।"

सन्त ललाट पर सलवट डालकर और नाक सिकोड़ कर बोले "ना, ना, सेठजी, इस माया को तो हम छोड़ कर चले हैं। इसे हम आँखों से भी नहीं देखना चाहते, स्पर्श करना तो दूर रहा!"

सेठ विनम्र और श्रद्धायुक्त भाव से बोला "महाराज! आप को इसकी आवश्यकता नहीं है, पर जिसको आवश्यकता है, उसके लिए यह बड़ी चीज है। किन्तु आप उसे क्यों स्पर्श करें? मैं स्वयं अपने हाथों, इसे ज़मीन में गाढ़ दूंगा और आपको

हाथ लगाने की आवश्यकता न होगी।"

तब सन्त ने कहा, "अच्छी बात है हम आंखें फेर लेते हैं।"

सन्त ने आँखें फेर लीं और सेठ ने झोंपड़ी के एक कोने में पोटली गाढ़ दी। सेठ अब आनन्द में है। सोचता है—डाकू आएँगे तो महल में आएंगे और वहाँ अब क्या रक्खा है ? झोंपड़ी में आएँगे तो बाबाजी का दंड-कमंडल देखकर ही लौट जाएँगे।

इस प्रकार सेठ सुरक्षा की भावना लेकर बैठ गया। वह सन्त बाहर में तो सन्त थे, किन्तु उनके अन्दर में तेज नहीं था, बल्कि गहरा अंधकार भरा पड़ा था। वहाँ यह हाल था कि दूसरों को रोशनी देने की चिन्ता ही थी, अपने आप में रोशनी लाने की चिन्ता नहीं थी। अतएव वह मन ही मन सोचने लगे-अच्छा चाँटा लगा दिया ! बच्चू जिंदगी-भर याद करेगा !

चौमासा उतर गया, फिर भी सेठ ने अपना धन नहीं निकाला। उपद्रव भी कम हो गया, फिर भी नहीं निकाला। जब सन्त के जाने का समय सन्निकट आया तो उन्होंने सारी सम्पत्ति निकाली और उसी दिशा में जंगल में ले जाकर गाढ़ दी, जिस दिशा में उन्हें जाना था। जब सब काम ठीक-ठाक हो गया तो उन्होंने सेठ से कहा "सेठ, अब हम चलते हैं। देखलो, अपनी झोंपड़ी संभाल लो।"

सेठ बोला "महाराज, आखिर यह झोंपड़ी ही तो है। इस में कौन-सी संभालने जैसी चीज है ?"

सन्त चले गये और कुछ दूर चले जाने के बाद वापिस लौट

कर आये। उनके हाथ में घास का एक छोटा सा तिनका था। वह सेठ के पास आकर बोले, 'बहुत बड़ा अपराध हो गया होता। हम तो मर मिटे होते और जीवन की सारी साधना मिट्टी में मिल गई होती। हम किसी काम के न रहते! देखो न, हम जब झोंपड़ी में से निकले तो घास का यह तिनका मेरी जटाओं में उलझा रह गया! इसे फैंकता भी तो तुम्हारी आज्ञा के बिना फैंकता कैसे? यह लो भाई, अपना तिनका! प्रभु की असीम कृपा हो गई कि जल्दी ही यह मेरे हाथ पड़ गया और मेरा जीवन अशुद्ध होते-होते बच गया।"

सेठ सन्त के पैरों में पड़ता है। कहता है "ओह! इतने ज्ञानी और विचारवान् हैं आप कि भूल से रहे एक तिनके का भी अस्तित्व सहन न हो सका।"

सन्त के प्रति सेठ की अब असीम श्रद्धा बढ़ गई। उसने कहा, "महाराज! मैं आपको नहीं जाने दूँगा। आप यहीं रहिए।"

सन्त ने मुस्करा कर कहा "नहीं, यह संभव नहीं। मैं तो-जाऊँगा।" इतना कहकर सन्त तेज़ कदम बढ़ा कर चल दिए।

उस काल में बुद्ध, अपने पूर्व जन्म में, एक व्यापारी के रूप में थे और उस समय उस सेठ के पास ही बैठे थे। उन्होंने उस साधु के इस व्यापार को देखा और विचार किया। उन्हें जान पड़ा कि यह साधु लौट कर आया है और वैराग्य तथा त्याग की भाषा बोल रहा है; किन्तु इसके आन्तरिक जीवन में कोई ठोस तत्व नहीं दिख रहा है। यह अपनी ग़लती को, अपने जीवन में आये

हुए कालेपन को ढंकने की चालबाज़ी खेलता प्रतीत होता है। साधक क़दम सँभाल-सँभाल कर चलता है, फूँक-फूँक कर नहीं चलता। जीवन में चलता है, तो चलने के ढंग से चलता है, जीवन के प्रति ईमानदार होकर चलता है, किन्तु ऐसा नाटक नहीं खेलता है। एक घास के तिनके को लौटाने के लिए दो-चार मील तक कोई नहीं लौटकर आता। इस साधु की यह वृत्ति कुछ समझ में नहीं आती। कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। दाल में कुछ काला अवश्य है।

इस प्रकार सोचकर उस व्यापारी ने सेठ से पूछा "कहीं धन तो नहीं रक्खा था इस साधु की जानकारी में।"

सेठ ने चौंक कर पूछा "तुम्हारे मन में यह आशंका क्यों उत्पन्न हुई? जो घास का तिनका लौटाने आएगा, वह क्या धन ले जाएगा?"

व्यापारी बोला—"हाँ, यह दम्भ का प्रतीक है। यदि कुछ हो तो बतला दो।"

सेठ चिन्तित भाव से बोला "साधु के सामने, उनकी झोंपड़ी में धन गाढ़ा तो था, पर वह वहीं गढ़ा होगा।"

दोनों ने जाकर देखा तो वहाँ सफ़ाचट मैदान था।

सेठ ने कहा "यह क्या हो गया?"

व्यापारी ने कहा, "अजी, वही ले गया है। संभव है उसका पीछा करने से रास्ते में कहीं मिल जाय!"

ऐसा ही किया गया। साधु रास्ते में मिल गया। उससे पूछा

गया, "वह धन कहाँ है ?"

साधु बोला, "हमको क्या पता तुम्हारे धन का ? हम तो घास का तिनका भी तुम्हें लौटा आए।"

तब उससे कहा गया, "सीधी बातें करो। हम जाने नही देंगे। उस धन के पीछे अपनी कम्बख्ती मत बुलाओ।"

इस प्रकार धमकाने पर साधु की बुद्धि ठिकाने आई। उसने धन बतला दिया और वह खोद कर निकाल लिया गया।

आज के धार्मिक जीवन में इसी प्रकार का दंभ, दिखावा और बनावट का भाव प्रायः सर्वत्र दिखाई पड़ता है। साधु हो या गृहस्थ, प्रत्येक के जीवन में ऐसी वृत्ति आ गई है कि भीतर तो किसी बल का संचार नहीं होता और ऊपर से क्रिया की जा रही है। ऐसी क्रिया कब तक टिकने वाली है ? नीचे गंदगी पड़ी है और उसके ऊपर फूल डाले जा रहे हैं तो गंदगी कब तक रुकेगी ? कब तक छिपेगी ? परिणाम यही आएगा कि फूल की एक-एक कली, जो महक दे रही थी, गल-सड़ कर गंदगी का रूप धारण कर लेगी।

अन्तर्धार्मिकता-विहीन कोरा क्रियाकाण्ड निष्प्राण शरीर के समान है। शरीर में जब चेतना नहीं रहती तो वह टिकता नहीं। वह सड़ने लगता है, गलने लगता है और दुर्गन्ध तथा ज़हर फैलाने लगता है। धार्मिकता-हीन क्रियाकाण्ड भी यही सब अनर्थ पैदा करता है। वह आत्मा में कषाय, अहंकार और पारस्परिक घृणा को उत्पन्न करता है। उससे व्यक्ति और समाज

के जीवन का वातावरण दूषित भले ही हो सकता है, परन्तु पावन नहीं हो सकता।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य या अस्तेय, कुछ भी क्यों न हो, अगर आन्तरिक जीवन में सुगन्ध मौजूद है, तो वह फूलों के ढेर के समान महत्व की वस्तु है और यदि अन्दर में सुगन्ध नहीं है तो पवित्र से पवित्र वृत्तियां भी गंदगी का रूप धारण कर लेंगी—और इस रूप में समाज का वातावरण भी दूषित हो जायगा।

इस तरह चारित्र बल हमारे धार्मिक जीवन की आत्मा है। उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। अगर वह है तो अहिंसा सफल है, सत्य भी फलदायी है और अस्तेय भी उपयोगी है। वह नहीं है तो सभी-कुछ निष्फल है, बल्कि कभी-कभी तो अनर्थकर है।

साधु हो अथवा श्रावक, आख़िरकार साधक ही है। पुरातन संस्कारों से प्रेरित मनोवृत्ति के कारण या विचारविभ्रम के कारण या सहज दुर्बलता के कारण कभी भूल हो जाना असंभव नहीं है। जीवन में ग़लतियाँ होती हैं और बड़ों-बड़ों से भी हो जाया करती हैं; परन्तु साधक की दृष्टि इतनी तीक्ष्ण होनी चाहिए कि उससे वह छिपी न रह सके, दृष्टि इतनी सजग होनी चाहिए कि वह सहन न हो सके और साधक में इतना साहस होना चाहिए कि वह उसे स्वीकार कर सके और प्रकाशित कर सके।

ठोकर खा गये तो खा गये, अगर तत्काल सँभल-जाने की

शक्ति है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। जो एक बार गिर कर फिर उठ सकता है, बल्कि पहले से भी अधिक ऊँचा उठ सकता है, उसका गिरना भी लाभदायक बन जाता है। किसी बालक को गेंद खेलते देखा है न? वह गेंद को नीचे पटकता है तो गेंद और भी ऊँची उठ जाती है। इसी प्रकार जो साधक अपनी ग़लतियों से ठोकर खा जाते हैं, किन्तु उससे शिक्षा ग्रहण करते हैं तो फिर अपनी सतह से भी ऊँचे उठ जाते हैं, वही सच्चे साधक हैं। वह जागरूक साधक हैं।

इसके विपरीत जो ठोकर खाकर चकनाचूर हो जाता है, मिट्टी के ढेले की तरह छितरा रह जाता है, कण-कण के रूप में बिखर जाता है, वह कभी ऊपर नहीं आ सकता।

इस भूमिका का अभिप्राय यह है कि साधक जो भी व्रत या नियम ग्रहण करे, अन्तःशुद्धि के साथ ग्रहण करे। उस व्रत या नियम के अनुरूप ही उसका आन्तरिक जीवन हो। उसके भीतर चारित्रबल हो। तभी अहिंसा, सत्य अथवा अस्तेय आदि व्रत सार्थक होते हैं।

हमारे जीवन में जो मूलभूत तत्त्व है, वह आन्तरिक चारित्र ही है, उसे आत्मशुद्धि कहो, निष्कलुष मनोवृत्ति कहो, भाव चारित्र कहो या निश्चय चारित्र कह लो। उसे कुछ भी नाम दे लो, व्रत-नियम की आत्मा वही है। उसी के अस्तित्व में व्रतों और नियमों की सार्थकता है। व्रत और नियम तो खेत की रक्षा के लिए खड़ी की जाने वाली बाड़ के समान हैं। खेत की रक्षा के

लिए ही बाड़ लगाई जाती है। खेत खाली पड़ा हो तो बाड़ किस काम की ? इसी प्रकार अगर भीतर चारित्र नहीं है, तो व्रत नियमों की प्रतिज्ञा की क्या सार्थकता है ?

अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाले साधक को इस तथ्य का ध्यान रखना है। आन्तरिक चारित्र की नींव पर अस्तेय की प्रतिज्ञा का भवन खड़ा किया जाना चाहिए। तभी वह टिकाऊ होगा। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए आज यह भूमिका तैयार की गई है।

ब्यावर,
२०/१०/५०।

संस्कृति का संदेश-वाहक—व्यापारी !

जैनधर्म और जैनसंस्कृति की, क्या साधु और क्या श्रावक, दोनों को ही सब से पहली शिक्षा यही है कि वह जीवन के दैनिक व्यवहारों में ईमानदारी से चले। जो व्यक्ति समाज से अलग रहता है, उससे भी यही अपेक्षा की जाती है और जो समाज के साथ काम कर रहा है, उससे भी यही आशा रक्खी जाती है कि वह अपने आप में ईमानदार रहे और अपने दायित्व को ठीक तरह से अदा करे।

आप साधु से क्यों बड़ी भारी प्रामाणिकता की अपेक्षा रखते हैं? क्योंकि वह भूमण्डल के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जहाँ भी कहीं जाता है, समाज के साथ अधिक सम्पर्क रखता है। लोग उसके परिचय में ज्यादा आते हैं। जब आते हैं, तो

वह अपनी संस्कृति की छाप और वह जिस रास्ते पर चल रहा है, उसकी ईमानदारी की छाप, जनता के मन पर डाल सके तथा अपना और दूसरों का भी कल्याण कर सके ऐसी उससे आशा रक्खी जाती है।

इसी प्रकार व्यापारी भी समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका जीवन बंधा हुआ जीवन नहीं है—उसका भी फैला हुआ जीवन है। उसका भी अधिक से अधिक जनता से वास्ता पड़ता है। अतएव उसे इस बात का ध्यान रखना है कि वह हज़ारों-लाखों के जीवन पर अपने जीवन की छाप डाल सके। जो भी व्यक्ति एक वार उसके परिचय में आवे उसका जीवन ऐसा होना चाहिए कि, वह व्यक्ति दुबारा उसके पास आने की अभिलाषा करे और जहाँ कहीं भी वह जावे, उस व्यापारी के विषय में महान् विचार रख कर जावे।

सम्भव है, व्यापारी के जीवन में बाहर की चोरियाँ दिखलाई न दें। वह डाका डालता हुआ, ताला तोड़ता हुआ, जेब कतरता हुआ या आँख बचाकर किसी की कोई वस्तु उठाता हुआ नज़र न आये, किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं कि वे जीवन के नीचे ही नीचे ऐसे चलती रहती हैं कि उन पर यदि ध्यान न दिया जाय और पूरी तरह प्रामाणिकता न रक्खी जाय तो व्यापारी का पद नीचे गिरता चला जायगा।

आपको एक बात विशेष रूप से ध्यान में लेनी है। जैन सभ्यता, जिसे हम मानव-जगत् की सभ्यता कहते हैं, उसका प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से हुआ। उससे पहले तो युगलियों का काल था। युगलियों के काल में न कोई व्यापारी था, न ग्राहक था। उत्पादन के ढंग थोड़े थे और जीवन की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं और अनायास ही उनकी पूर्ति हो जाती थी। किन्तु जब आवश्यकताएँ आगे बढ़ीं और परम्परागत उत्पादन का क्रम कम पड़ गया तो मनुष्य के दिमाग़ में एक संघर्ष पैदा हुआ। उस समय भगवान् ऋषभदेव हमारे जीवन के मंगल के रूप में नजर आये। उन्होंने उस समय की पीड़ित जनता के सामने एक महत्वपूर्ण आदर्श रक्खा, कि पुरुषार्थ करो। जो कुछ भी तुमको पाना है, उसके पीछे ऐसे मत रहो कि वह यूहीं कहीं पड़ा हुआ मिल जाय अथवा दूसरे उत्पादन कर दें और हम उसका उपभोग कर लें।

यह जीवन की प्रक्रिया लाखों वर्षों तक चलती रही है, किन्तु बदलते-बदलते अब जीवन की परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं, फलतः मनुष्य के सामने बहुत बड़ा परिवार और समाज बनता चला आ रहा है। अब एक का नहीं, किन्तु लाखों का सवाल सामने है। उनका पेट भरने और भराने की समस्या है। ऐसी स्थिति में भाग्य पर नहीं, अपने हाथों-पैरों और पुरुषार्थ पर भरोसा रखना है। हमारे पुरुषार्थ

की प्रतिष्ठा इसी में है।

जैनधर्म का साहित्य महान् है और अब भी मौजूद है। और जिस रूप में मौजूद है वह आज से नहीं, हज़ारों वर्षों से भगवान् ऋषभदेव के पुरुषार्थ के महत्व की बात कहता चला आया है, जो उन्होंने मानव जाति को सिखलाया था। तत्कालीन मानव-जीवन में वह एक बहुत बड़ी क्रान्ति का मंगलमय संदेश था।

इस रूप में असि, मसि और कृषि के धंधे आये! बोलने में हम ऐसा बोलते हैं, पर वास्तव में पहले कृषि आई, फिर मसि आई और बाद में रक्षा के लिए असि, तलवार आई। थोड़ा विचार कीजिए कि जब कृषि-उत्पादन ही नहीं हो तो हिसाब-किताब किसका किया जायगा ? अतएव सर्वप्रथम कृषि है। कृषि के द्वारा जब एक जगह धान्य इकट्ठा हो जाता है और दूसरी जगह न होने से वहाँ उसकी आवश्यकता होती है और उसके अभाव में जनता भूखी रहती है, तब व्यापारी के द्वारा धान्य एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता है और वह फिर उस जगह के किसी विशेष उत्पादन को लेकर अपने स्थान को लौटता है।

इस प्रकार जब आयात-निर्यात का काम जारी हुआ तो उसके नफ़ा-नुक़सान का हिसाब-किताब रखना ज़रूरी हो गया और क़लम पकड़ना भी ज़रूरी हो गया।

और जब क़लम पकड़ी तो जीवन में एक महत्वपूर्ण बात हो गई। एक महान् क्रान्तिकारी वस्तु ने जन्म ग्रहण किया। इस प्रकार व्यापारी जब क़लम लेकर चला तो, एक जगह के भंडार को, जहाँ उत्पादन ज्यादा है और आवश्यकता कम है, दूसरी जगह, जहाँ उत्पादन कम और आवश्यकता अधिक है, पहुँचाने लगा। वह एक जगह से दूसरी जगह घूमता है और जनता की आवश्यकता की पूर्ति करता है। और पुरुषार्थ करता है। उसमें उसका भी स्वार्थ है। इसी व्यापार के द्वारा वह अपनी आजीविका भी कमा लेता है। पर उसकी दृष्टि इतनी विशाल और सेवामयी है कि उसमें स्वार्थ की प्रधानता नहीं है। आख़िर तो व्यापारी के साथ भी पेट लगा है, स्त्री है, बाल-बच्चे हैं और उनके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व उसके सिर पर है। वह अपना समय और शक्ति जनता की इसी सेवा में लगा रहा है और अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई दूसरा धंधा नहीं करता। ऐसी स्थिति में अगर वह इस आयात-निर्यात में से ही अपने निर्वाह का साधन न जुटाये तो क्या करे? इस रूप में आयात और निर्यात के साथ तीसरी चीज़—नफ़ा—का भी प्रादुर्भाव हुआ।

यही व्यापार का आदि इतिहास है। जनता के मंगल के लिए ही उसका सूत्रपात हुआ। इस प्रकार आर्यसभ्यता में

पहला नंबर कृषि का है तो दूसरा व्यापार का।

किसान एक जगह कृषि करता है। वह जहाँ रहता है वहीं रहता चला जाता है और पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ वहीं गुज़ार देता है। उसकी स्थावर सभ्यता एक जगह केन्द्रित है। इस कारण जनता के ऊपर उसका व्यापक प्रभाव नहीं होता है। मगर व्यापारी की सभ्यता जंगम है। वह भूमण्डल के एक-एक कोने को छानता है और जगह-जगह जाता है। वह जाता है तो मैं समझता हूँ कि उसे सच्चा व्यापारी बन कर जाना चाहिए और इंसान बन कर जाना चाहिए। अगर वह लुटेरा बन कर जाता है, दूसरे जीएँ या मरें इस बात की चिन्ता न करते हुए केवल पूँजी बटोरने के लिए ही जाता है, तो मैं समझता हूँ, वह अपने धर्म और अपनी सभ्यता की रोशनी देकर नहीं आएगा। यह संभव है कि वह चतुरता से लौट कर आ जाय और सम्पत्ति भी बटोर लाय, किन्तु उसके लिए वहाँ की जनता कहेगी—लूट कर ले गया! वह इतना धूर्त्त और चालाक था! इस प्रकार वह जनता की श्रद्धा लेकर नहीं, घृणा लेकर लौटेगा। ऐसे व्यापारी की स्थिति ठीक उस डाकू की तरह है, जो छापा मार कर ले जाता है और पीछे घर वाले रोते रहते हैं और उसके पीछे घृणा और द्वेष पनपते रहते हैं।

एक व्यापारी जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न कर देता है तो उसके दूसरे साथियों पर से भी जनता का

विश्वास उठ जाता है।

व्यापारी संस्कृति का प्रतीक है। भारतवर्ष की सभ्यता इंडो-चायना या जावा-सुमात्रा में पहुँची, चीन में पहुँची या फ़िलीपाइन में पहुँची। और भारत से बाहर आज भी हिन्दुओं के जो चिह्न—भारत की संस्कृति के प्रतीक विदेशों में पाये जाते हैं, उन्हें वहाँ कौन ले गया था? वहाँ तलवारों के बल पर वह सभ्यता नहीं पहुँची थी। राजा और महाराजा अपने साम्राज्य को बढ़ाने के लिए नहीं गये थे। वास्तव में विदेशों में भारतवर्ष की सभ्यता फैलाने वाले व्यापारी ही मुख्य थे।

जावा-सुमात्रा, चीन और जापान, जहाँ कहीं भी नज़र डालते हैं, वहाँ संस्कृत के शिलालेख मिलते हैं। आपके यहाँ प्रचलित हजारों रीति-रिवाज़ वहां भी मिल जाते हैं। इतिहासज्ञ जानते हैं कि आपकी सभ्यता और आपके रीति-रिवाज़ वहाँ पहुँचे हैं।

इसका अर्थ यह है कि भारत के व्यापारी जहाँ कहीं भी गये, वहाँ उन्होंने पैसा भी कमाया और साथ ही साथ जनता के हृदय की भावना भी कमाई। दोनों कमाइयाँ साथ-साथ कीं। वे केवल पैसा कमाकर ही नहीं लौटे, जनता के प्रेम की स्वर्गीय सम्पत्ति भी कमा कर लौटे। उन्होंने जनता को प्रेम दिया और बदले में प्रेम लिया और अपनी संस्कृति की गहरी छाप भी जनता के मानस-पट पर अंकित कर दी।

बौद्ध गये तो हज़ारों बौद्ध, जैन गये तो हज़ारों जैन और वैदिकधर्मी गये तो हज़ारों वैदिक बनाकर लौटे। व्यापारी लोग विदेशों में जाकर साधुओं की तरह उपदेश देने नहीं बैठे थे, उन्होंने वहां व्यापार ही किया, किन्तु अपनी व्यापारिक योग्यता और प्रामाणिकता के द्वारा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा ही क़ायम नहीं की, वरन् अपने देश के लिए भी बहुत बड़ा गौरव का भाव उत्पन्न किया। उनके विषय में वहां की जनता ने कहा, "ये जिस देश के व्यक्ति हैं वह देश कितना महान् होगा ! जिस धर्म के मानने वाले इतने महान् हैं तो वह धर्म कितना महान् होगा।"

तो व्यापारियों ने जो पैसा कमाया और धर्म का प्रचार किया, वह केवल व्यापार की कला से। वे क़लम की कला से ही अपने धर्म का प्रचार करके लौटे।

प्राचीन भारत का व्यापारी जब व्यापार के हेतु विदेश जाता था तो किस रूप में जाता था ? वह आज की भांति नहीं जाता था। आज किसी व्यापारी को पता चल जाता है कि कमाई का 'चान्स' है, तो वह रात को ही दौड़ पड़ता है; चुपके-चुपके चल देता है और किसी को पता नहीं लगने देता ! यहाँ तक कि सगे भाई को भी पता नहीं चलने देता ! सोचता है, "इस लूट में किसी का हिस्सा न हो जाय और पूरा का पूरा लाभ मैं ही प्राप्त कर लूँ।" दूसरे पूछते हैं, "क्या हुआ ?" तो वह ठीक-ठीक बात नहीं बतलाता।

एक जगह लोगों ने मुझे एक व्यापारी की बात बतलाई। जब वह कहीं से सौदा खरीद कर लाता। दूसरे उससे पूछते कि कहां गये थे ? तो वह उत्तर देता, "इधर-उधर गया था।" फिर पूछा जाता—किससे सौदा लाये ? वह कहता, "तेरे से, मेरे से"। क्या लाये ? "बस, यही सौदा-सादा !" अजी, क्या भाव लाये ? "यही छटाँक कमती छटाँक बढ़ती।"

वह व्यापारी इस प्रकार टालमटूल कर दिया करता। कहाँ से, किससे और किस भाव से लाया, यह पता नहीं देता था। और यह पता न देने में आज व्यापारी की कला समझी जाती है। आज उसकी यही बड़ी योग्यता है, जिससे व्यापारी ऊँचा चढ़ता है।

किन्तु पुराने युग में यह बात नहीं थी। उस युग का व्यापारी जब जाता था तो नगर भर में ढिंढोरा पिटवा दिया जाता था कि अमुक सेठ जी व्यापार करने के लिए विदेश जा रहे हैं, जिसे साथ में चलना हो चले। उसका सारा प्रबन्ध सेठ जी अपनी ओर से करेंगे। पूँजी भी मिलेगी। टोटा पड़ेगा तो उसे स्वयं सेठजी भुगत लेंगे। नफ़ा होगा तो उसी का होगा।

इस प्रकार एक बड़े व्यापारी के साथ हज़ारों हो लेते थे। जब 'सार्थ' रवाना होता था तो राजा और नागरिक जन विदाई देने को उमड़ पड़ते थे। सारी जनता उनके लिए मंगल-कामना करती थी और मनाती थी कि यह सब

सकुशल और सफल मनोरथ होकर लौटें । वे जब तक नहीं लौटते थे, समस्त नगर निवासी उनके लिए मंगल कामना करते रहते थे और उनके हृदय का आशीर्वाद उन्हें मिलता रहता था ।

यह ठीक था कि चंद आदमी ही व्यापार के लिए जाते थे, किन्तु समस्त देश के निवासियों की सद्भावना उनके साथ होती थी । जब वे वापिस लौटते थे तो सम्राट् भी उनके स्वागत के लिए सामने जाता था और धूमधाम के साथ उनका नगर-प्रवेश कराया जाता था ।

यह साझेदारी का काम था, हिस्सा बांटने का काम था ! हमारे प्राचीन साहित्य में भारतीय जन-जीवन की जो झलक देखने को मिलती है, वह कितनी स्पृहणीय है ! कैसी उदारता, सहानुभूति और उदार दृष्टि थी उस समय के व्यापारियों की ! और इस सब के बदले में वे क्या घाटा उठाते थे ? नहीं, उन्हें जीवन की सभी समृद्धियाँ प्राप्त होती थीं ।

हमारी संस्कृति के ये अग्रदूत जहाँ कहीं गये, पैसा, सोना और चाँदी लेकर आये और साथ ही उस देश का प्रेम भी लेकर आये और उन्होंने एक देश का दूसरे देश के साथ मधुरतम सम्बन्ध भी जोड़ा ।

मगर आज भी क्या यही स्थिति है ? मैं समझता हूँ, आज का व्यापारी समाज उस उच्च आर्य-परम्परा पर स्थिर

नहीं रहा है। वह बिगड़ गया है। पहले का व्यापारी कोरा अर्थलिप्सु नहीं था। वह अपनी सभ्यता और संस्कृति का भी प्रसार करता था और अच्छाइयां देकर और लेकर आता था।

उत्तराध्ययन सूत्र में समुद्रपाल का वर्णन आता है। उसका पिता पालित श्रावक चम्पा का निवासी था। वह जहाज भर कर समुद्र के रास्ते विदेश में गया तो हजारों को हिस्सेदार बना कर गया। और जब विदेश में पहुँचा तो उसने वहाँ के निवासियों के चित्त पर सुन्दर छाप लगाई। शास्त्र में आता है।

पिहुण्डे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ॥

वहाँ के एक प्रतिष्ठित नागरिक ने पालित की प्रामाणिकता को देखकर, और जीवन के अन्दर सुन्दर छाप देखकर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया।

आप कह सकते हैं कि उसने ऐसा क्यों कर लिया ? वह श्रावक था या नहीं ? और इस प्रकार आपकी बुद्धि कोने तलाश करने लगती है। आप को अपनी मानी हुई संस्कृति की रक्षा की चिन्ता जाग जाती है और आप कहने लगते हैं, वह पहले श्रावक नहीं बना होगा ! बाद में श्रावक बना होगा और इसी कारण वह विवाह करके आ गया !

किन्तु बात यह है कि पालित व्यापार के लिए गया था

और विदेश के व्यापारी ने उसे अपनी कन्या ब्याही। यदि उसने वहां अपने उच्च चरित्र का, ऊँची सभ्यता का और प्रामाणिकता का परिचय न दिया होता तो उसे वह अपनी लड़की नहीं दे सकता था। पालित श्रावक बड़ा ही विद्वान और सच्चा विचार करने वाला था। जब वह जहाज से रवाना हुआ तब भी शास्त्र ने उसे श्रावक करार दिया। और जब लौट कर आया, तब भी श्रावक की भूमिका में लौट कर आया। उसके जीवन में एकरूपता है। जैसा पहले रहा, वैसा ही बाद में भी रहा।

आशय यह है कि भारतीय व्यापारी वर्ग ने अपने उच्च आचार-विचार के द्वारा ऐसी सुन्दर छाप छोड़ी और इतने सुन्दर विचार छोड़े कि भारत के साथ अनेक देशों के मधुर सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हुए, बल्कि उन देश वासियों ने अपने बालकों और बालिकाओं के विवाह सम्बन्ध भी किए।

तो एक व्यापारी अगर ठीक व्यापारी बना रहता है और अपनी संस्कृति का अग्रदूत बन कर चलता है तो वह धन भी कमाकर लाता है और मीठे सम्बन्ध भी स्थापित कर आता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि समाज में व्यापारी का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उस समय के व्यापारियों ने समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। आज की भांति उनके प्रति जनता की घृणा

नहीं बरसती थी। सच पूछो तो आज समाज में व्यापारी की अगर कुछ भी प्रतिष्ठा हो तो उसका श्रेय भी प्राचीन काल के व्यापारियों को ही है। उनके उदार दृष्टिकोण, लोक-कल्याण की भावना, प्रामाणिकता और सचाई के कारण जनता में व्यापारी का जो महत्वपूर्ण स्थान बन गया था, इस गई-गुज़री हालत में भी उसका ध्वंसावशेष कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा आज का व्यापारी तो व्यक्तिगत स्वार्थ की दलदल में फँस गया है। उसने अपनी ही स्वार्थपूर्ति के लिए व्यापार की कला सीखी है। अतएव वह संसार की नज़रों में गिरता जा रहा है और उसकी प्रतिष्ठा टुकड़े-टुकड़े होती जा रही है।

संभव है, भारत में विदेशियों का सन्मान हो, किन्तु विदेशों में भारत के व्यापारी का सन्मान नहीं है। हमें जो जानकारी मिली है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के दूसरे वर्गों के व्यक्तियों का, चाहे वे झाड़ू लगाने वाले ही क्यों न हों, विदेशों में जितना सन्मान है, व्यापारी वर्ग का उतना भी सन्मान नहीं रह गया है। कारण यही है कि उन्होंने प्रामाणिकता का परिचय नहीं दिया है। आज के व्यापारी नमूना कुछ भेजते हैं और चीज़ कुछ भेज देते हैं।

भारत सरकार इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ व्यापार सम्बन्ध जोड़ने की बात-चीत करती है, किन्तु इंग्लैण्ड और

अमेरिका को, भारतीय व्यापारियों के विरुद्ध शिकायत है कि जो चीज़ भेजी जानी चाहिए, वह नहीं भेजी जा रही है ! इस प्रकार की शिकायतें भारत सरकार के भवन में पड़ी रहती हैं। व्यापारियों को चुनौती दी जाती है, फिर भी वे अपनी प्रकृति नहीं बदलते हैं। इससे न केवल उन्हीं की, बल्कि देश की प्रतिष्ठा को भी क्षति पहुँचती है।

विदेश में मधुर वही बन सकेगा, जो देश में भी मधुर होगा। जो अपने परिवार में मीठा और नम्र होता है, ईमानदारी से काम करता है और अपने सगे भाई के साथ प्रेम का व्यवहार कर रहा है, यदि उसके पास कला है तो वह दूसरे के साथ भी मीठा व्यवहार कर सकेगा।

हाँ, तो आज का जो भारतीय व्यापारी है, उसके ऊपर चोरी की गहरी छाप लग गई है। उसने भगवान् महावीर के अस्तेय-अचौर्यव्रत के संदेश को भुला दिया है। परन्तु जो उस महान् संदेश पर क़ायम रहता है, उसकी प्रतिष्ठा कम नहीं हो सकती।

विश्वास और प्रतिष्ठा के आधार पर ही जगत् के व्यवहार ठीक तरह चलते हैं। हम साधु भी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाते हैं। जनता के ऊपर हमारे प्रति विश्वास की एक भूमिका है। उसी के सहारे ही हम अपनी यात्रा सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अगर आप अपना विश्वास क़ायम रखते हैं तो आपको प्रतिष्ठा भी मिलेगी, सम्पत्ति भी मिलेगी

और शान्ति भी मिलेगी। जो जितना ही अधिक विश्वासपात्र होगा, वह उतना ही ऊँचा चढ़ सकेगा। इसके विपरीत अगर आप व्यापारी अपनी प्रतिष्ठा को खो देते हैं और देश में अपनी इज़्ज़त खत्म कर देते हैं, तो फिर पनपना कठिन हो जायगा। एक ऐसी गड़बड़ पैदा हो जायगी कि उसे सँभालना आपके वश की बात नहीं रहेगी।

आज के व्यापारी को देखते हैं तो स्थिति बड़ी निराशाजनक प्रतीत होती है। हालत यहाँ तक गिर गई है कि चीज़ को लेते और देते समय व्यापारी के तोलने के ढंग भी न्यारे-न्यारे हो गये हैं। देने के बाँट अलग रक्खे जाते हैं और लेने के बाँट अलग होते हैं। जिस तराजू का आदर्श बड़े-बड़े सम्राटों के आगे गया और उन्होंने अपने सिक्कों पर तराजू का चिन्ह अंकित किया और कहा कि हम इन्साफ़ और न्याय को तराजू की तरह तोलेंगे वही तराजू अगर अपनी प्रतिष्ठा पर पानी फेर दे तो क्या शोचनीय बात नहीं है?

तराजू न्याय-नीति का प्रतीक है। तलवार उठाने वाले सम्राट् भी तराजू की तरह न्याय करने की घोषणा करते थे। परन्तु आज तो वह तराजू ही बदल गई है। लेते समय कुछ और है और देते समय कुछ और है।

एक सेठ के तीन लड़के थे। उनके नाम थे घटाऊ, बढ़ाऊ और पूर्ण। उसके यहाँ कोई माल बेचने आता और लेना होता तो बढ़ाऊ को, जब देना होता तो घटाऊ को और जब

कोई राज-कर्मचारी आता तो पूर्ण को माल तोलने के लिए कह देता था। लड़के भी ऐसे प्रशिक्षित बना लिए गये थे कि वे क्रमशः ज्यादा, कम और बराबर तोल कर अपना-अपना कर्त्तव्य अदा करते थे। इसी रूप में उसने अपने लड़कों को मतलब के नाम रख लिए थे और वह इसी तरह व्यापार किया करता था।

परन्तु भगवान् महावीर ने कहा है कि इस प्रकार का जो व्यापार होता है, वह चोरी का काम है। ऐसा करने वाले का श्रावकपन क़ायम नहीं रह सकता है। कमती देना और ज्यादा लेना, भगवान् महावीर की निगाह में चोरी है।

इसी प्रकार व्यापारी के पास खोटे सिक्के आ जाते हैं और वह उन्हें दूकान में इकट्ठा कर लेता है और सोचता है कि कोई न कोई भोला आदमी, रात-विरात ले ही जायगा।

सौदे-सट्टे का बड़ा व्यापारी कभी-कभी सौदे का भाव इतना ऊँचा चढ़ा देता है और कभी इतना गिरा देता है कि मध्यम वर्ग अपनी स्थिति को सँभालने में असमर्थ हो जाता है, बुरी तरह पिस जाता है। देखते हैं, बम्बई के बड़े-बड़े व्यापारी भावों में काफ़ी घटती-बढ़ती करके हज़ारों ग़रीबों का शोषण कर लेते हैं। फिर मध्यम वर्ग ज्योतिषियों के पास दौड़ा जाता है। वे उसे आशीर्वाद देते हैं, पर उनका आशीर्वाद भी कुछ काम नहीं आता। क्योंकि वे बड़े बाबाजी जो बैठे हैं। असली बात तो उनके हाथ में है। वे जब और जिस रूप में चाहें,

बाज़ार को हिला सकते हैं। मध्यम वर्ग के ग्रहों और नक्षत्रों के संचालक मानो वही हैं और उनकी घूँस खाकर ग्रह और नक्षत्र भी उन वेचारों को धोखा दे देते हैं।

यह सब क्या है ? यह साधारण चोरी नहीं, चोरी का एक बड़ा अंग है। जैन सिद्धान्त इसे चोरी मानता है क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति में दूसरों का हक़ हड़प जाने की भावना है।

वास्तव में आज की परिस्थिति बहुत चिन्तनीय है। आज व्यापार का ढंग कुछ का कुछ हो गया है। व्यापारियों को मर्यादा में रखने के लिए सरकार एक क़ायदा बनाती है और नियंत्रण लगा देती है। कहने को तो व्यापारियों के हाथ-पैर बाँध दिये जाते हैं और वे ऊपर से चोरी करते दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु अन्दर ही अन्दर उनके हाथ-पैर लम्बे फैल जाते हैं। आज व्यापारी ब्लेक मार्केट के रूप में हज़ारों का शोषण करता जाता है और धन का संग्रह करता जाता है। वह उस धन को बहीखाते में नहीं चढ़ाने पाता तो तिजोरियों में भरता जा रहा है। इस प्रकार जन-जीवन में से धन का संचार रुक गया है और वह एक जगह पड़ा-पड़ा सड़ रहा है।

चोर के द्वारा की जाने वाली चोरी का सम्बन्ध यद्यपि सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था के साथ भी है, परन्तु प्रत्यक्ष सम्बन्ध एक व्यक्ति के साथ है। परन्तु आज का काला बाज़ार उसके मुक़ाबिले में भी गुरुतर अपराध है। उसका सम्बन्ध

एक-दो गिने-चुने व्यक्तियों के साथ नहीं है, अपितु समग्र देश के साथ है, देश की करोड़ों जनता के साथ है। करोड़ों आदमियों का भाग्य उसके साथ बँधा हुआ है। इस चोरी का ऊपर से पता नहीं लगता है, किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से वह घोर पाप है।

कुछ पाप वैयक्तिक होते हैं, कुछ सामाजिक और कुछ राष्ट्रीय होते हैं। किन्तु खेद है कि लोग वैयक्तिक पाप को तो पाप समझ सकते हैं और समझते भी हैं, मगर सामाजिक और राष्ट्रीय पाप उनकी समझ में ही नहीं आता। उसका कोई गुरुत्व ही वे महसूस नहीं करते। यह पतन की पराकाष्ठा है। जो पाप को पाप समझता है, वह किसी दिन उससे बच भी जायगा, मगर पाप को पाप न समझने वाले का रोग तो असाध्य समझना चाहिए।

आज की विषम स्थिति देख कर किस सहृदय का हृदय आहत नहीं हो जाता? एक ओर देहात की लड़कियों के पास तन ढाँकने को वस्त्र नहीं है, वह चिथड़ों से किसी प्रकार अपनी लाज बचाती हैं। उनके पास न खाने को रोटी है और न पहिनने को वस्त्र हैं। और दूसरी तरफ एक-एक व्यापारी के घर में दो-दो हजार धोती जोड़े छापा मारने पर पकड़े जाते हैं। इस प्रकार एक ओर लोभ-लालच और असीम संग्रह की भावना का नंगा नाच हो रहा है और दूसरी ओर लोग जीवन की अनिवार्य आवश्यक सामग्री से भी मुहताज हो रहे हैं।

बंगाल के अकाल की हालत आपको मालूम होगी, वहाँ बालक और बूढ़े, मक्खियों और मच्छरों की तरह मर रहे थे और दो-दो रुपये में बच्चे बिक रहे थे। लाखों आदमी मौत के मुँह में चले गए। उस समय भी किसी किसी व्यापारी के गोदाम में हज़ारों मन चावलों के बोरे भरे पड़े थे। वह उन्हें बड़े यत्न से संभाले था कि कब भाव कुछ और ऊंचा चढ़े और तब इन्हें बेचूँ।

इस हृदयहीनता, निर्दयता और कठोरता की कहीं हद है?

मुझे एक व्यापारी का पता है। उसने 'ब्लेक मार्केट' न करने का नियम लिया था। वह सूत का बड़ा व्यापारी था। वह तो सरकार द्वारा निश्चित दर पर ही सूत बेच रहा था, किन्तु उसी के यहां से ले-ले जाकर लोगों ने ब्लक करके कमाई की। लोग उस बड़े व्यापारी से कहने लगे-तुम मूर्ख हो। तुम्हारे अकेले से क्या होता है? तुम्हारी प्रामाणिकता से जनता को क्या लाभ है? आखिर दूसरे व्यापारी बीच ही में अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं और तुम धर्म की पूँछ पकड़ कर बैठे हो? जब तुमसे लेजाकर दूसरे लोग लाभ उठाते हैं तो तुम्हीं क्यों लाभ गंवा रहे हो? यहाँ एक धर्मशाला की जरूरत है। तुम्हें ब्लेक का पैसा अपने पास न रखना हो तो एक धर्मशाला बनवा देना।

इस प्रकार कह कर लोगों ने उसे बरगला लिया। वह भी प्रलोभन में पड़ गया और मेरे पास आया। बोला—मैंने

चोरी का त्याग कर रक्खा है, पर दूसरे लोग उससे लाभ उठा रहे हैं। मुझसे ले जाकर वे 'ब्लेक मार्केटिंग' करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि मैं स्वयं ब्लेक कर लूँ तो क्या हर्ज है ? उससे जो रुपया आयगा, उसे धर्मशाला बनवाने में लगा दूँगा।

मैंने कहा—यह तो बड़ी भारी अज्ञानता का काम होगा। नीति कहती है:—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥

पहले कीचड़ में पैर देना और जब सन जाय तो उसे पानी से धोना, कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति तो वही है जो पहले ही कीचड़ में पैर नहीं भरने देता। इसी प्रकार पहले धन उपार्जन करने और फिर उसे धर्म में लगाने की अपेक्षा तो धनोपार्जन से विरत हो जाना ही अधिक श्रेयस्कर है। फिर अनीति और अधर्म से धनोपार्जन करके दान देना तो और भी बड़ी अज्ञानता है। इस प्रकार का दान सच्चा दान नहीं है। वह तो कषाय और अहंकार की आग को प्रज्वलित करने वाला ईंधन है। उसमें धर्म के बदले प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि का उपार्जन करने की भावना प्रधान है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि धर्म के लिए धन की इच्छा करने की अपेक्षा धन की इच्छा न करना ही अधिक श्रेष्ठ है।

हाँ, तो मैंने उस व्यापारी से कहा—तुम जनता को लूटकर कदाचित् धर्मशाला का महल खड़ा भी कर लोगे तो भी लोगों

की निगाह में वह धर्मशाला अधर्मशाला ही रहेगी । ऐसा करके तुम जनता को सद्भावना को नहीं पा सकोगे। और न्याय नीति से चलकर, सम्भव है कि तुम एक झोंपड़ी भी न बनवा सको, किन्तु यदि तुम चोरी नहीं करते और ब्लेक नहीं करते तो यह तुम्हारा बड़े से बड़ा धर्म है । दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, यह तो सरकार के ध्यान देने को बात है। तुम्हें तो अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का ही विचार करना है। एक को अनीति देख कर दूसरा भी अनीति में प्रवृत्त हो जायगा तो अनीति की परम्परा किस जगह जा कर रुकेगी ? नीति को कहां जगह रह जायगी ? दूसरे लोग यदि मार्ग भूले हैं तो हम जान-बूझ कर क्यों उनके पीछे चलें ।

देश के ऊपर आज बहुत बड़ा संकट है। देश संक्रांति के युग से गुज़र रहा है । व्यापारी चाहें तो इस संकट को टालने में महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं। इससे देश की रक्षा होगी, व्यापारी वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और भारतवर्ष की प्राचीन व्यापार नीति के उज्ज्वल उद्देश्य की भी रक्षा होगी ।

मैं समझता हूँ कि इस ढंग से चलने में ही व्यापारी समाज का लाभ है। इस ढग पर न चल कर व्यापारी अगर अपना मौजूदा रवैया नहीं बदलते तो ऊबी हुई जनता एकदम असहिष्णु बन जायगी । वह व्यापारियों के अस्तित्व को एक-दम उखाड़ फेंकेगी और विनिमय एवं आयात-निर्यात की किसी दूसरी पद्धति को प्रचलित करेगी । उस समय व्यापारी

धर्म को जो क्षति उठानी पड़ेगी, उसका आज अनुमान करना भी कठिन है। अतएव व्यापारी लोग अगर दूरदर्शी हैं तो समय रहते उन्हें सावधान हो जाना चाहिए और व्यापार के नाम पर चलने वाली नाना प्रकार की तस्कर-वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए।

कहाँ दूसरे देशों के लोग हैं जो ग़रीबी में जीवन गुज़ारते हुये भी अपने देश को ऊँचा उठाने में लगे हुए हैं और कहाँ हमारे देश के लोग हैं जो अपनी तिजोरियाँ भरने में ही दत्तचित्त हैं। जब हम विचार करते हैं कि दूसरे देशों को वसीयत के रूप में एक महान् और अत्यन्त उज्ज्वल परम्परा नहीं मिली है, फिर भी उनमें अस्तेय का भाव उस देश के निवासियों की अपेक्षा, जिसे कि वह परम्परा वसीयत्त में मिली है, अधिक है, तो हमारे आश्चर्य का पार नहीं रहता।

भारत की श्रेष्ठ सभ्यता हमारे सामने है, फिर भी भारतीय पाप करके धर्म करने की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ रहे हैं। उनकी समझ में क्यों नहीं आता कि पापों को छोड़ देना भी, अपने आप में बड़ा धर्म है ?

जैन धर्म या दूसरा कोई भी धर्म, धर्म करने के लिए पाप करने की प्रेरणा नहीं करता। प्रत्येक धर्म पाप न करने की ही बात कहता है। अगर व्यापारी, जो किसी समय महान् थे किन्तु आज नीचे गिर गये हैं, देश को बनाना चाहेंगे तो बना देंगे और बिगाड़ना चाहेंगे तो बिगाड़ देंगे।

अगर व्यापारियों ने होश न सम्भाला तो भूखी-जनता की आँखें उनकी तिजोरियों को घूर रही हैं। अब ये तिजोरियां सुरक्षित नहीं रह सकेंगी। व्यापारी यदि उनकी रक्षा करना चाहते हैं, तो एक ही उपाय है और वह यह कि उन्हें और अधिक भरने की कोशिश न की जाय, साथ ही उनका बोझ कम करके उन्हें ज़रा हल्का कर दिया जाय। ऐसा न किया गया तो भीषण क्रान्ति और बड़ा भारी इन्क़िलाब आएगा। उसे कोई नहीं रोक सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जीवन में, व्यापार-कला के नाम से आज जो चोरी चल रही है, उसे त्याग देना ही मंगलकर है। स्तेय के बिना नीतिपूर्वक एक पैसा भी आयगा तो वह रुपये के बराबर होगा। और यदि हज़ारों, लाखों और करोड़ों आ गये, किन्तु ग़रीबों के आंसुओं से भीगे हुए आये, तो वे बर्बाद कर देंगे।

युग के विधान को समझ लेने में ही बुद्धिमत्ता है। आज अखिल विश्व एक नये रूप में बदलता जा रहा है और जनता नवीन दृष्टिकोण से तथ्यों को समझने और अवलोकन करने लगी है। वह दृष्टिकोण अब तक के दृष्टिकोण से बहुत अंशों में निराला है। अब कोई भी शक्ति प्राचीन आर्थिक प्रणालिका को क़ायम रखने में समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में जो न सँभलेंगे वे स्वयं डूबेंगे और अपने सजातियों को भी डुबोयेंगे।

व्यापारिक स्तेय उस स्थिति को सन्निकट से सन्निकटतर ला रहा है। व्यापारी ब्लेक मार्केट करके अपने ही पैरों पर कुठार

चला रहे हैं। वे समझते हैं: हम चतुर हैं, मगर चतुर लोग समझते हैं कि अपने अस्तित्व की जड़ उखाड़ने में लगे हुए लोगों की मूर्खता सीमातीत है।

मैं देख रहा हूँ, यह अन्तिम अवसर है। जिन्हें सावधान होना हो, हो लें, अन्यथा काल-चक्र में पिसना ही है।

ब्यावर
२१-१०-५०।

सर्वोदय का मूल मन्त्र

आप जानते हैं कि जैनधर्म एक बहुत ऊँचा धर्म है, मगर आपको यह भी जानना चाहिए कि उसकी उच्चता आखिर किस कारण है? जैनधर्म की उच्चता का कारण यह है कि उसकी निगाह खाली शास्त्रों पर ही नहीं है। कोई भी धर्म, शास्त्रों में ऊँची-ऊँची बातें लिखी होने के कारण ही ऊँचा नहीं बन जाता। किसी धर्म को मानने वालों की लाखों करोड़ों की जनसंख्या हो तो भी वह ऊँचा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह धर्मस्थानकों में बड़ी भीड़ लगने या चहल-पहल होने से भी धर्म ऊँचा नहीं बनता है। जैनधर्म के प्रवर्त्तकों ने वास्तविक ऊँचाई के मूल को समझा और चिन्तन एवं विचार किया कि कोई भी धर्म, जो जनता के जीवन से बाहर ही बाहर रहता है,

धर्म नहीं है। कम से कम वह उस धर्म की श्रेष्ठता का चिन्ह नहीं है। अतएव जैनधर्म मानता है कि जो धर्म जनता के जीवन में उतर जाता है और रोज़मर्रा के व्यवहारों में घुलमिल जाता है और साधारण रहन-सहन में भी व्याप्त रहता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। वहीं से उस धर्म को रोशनी मिलती है। वही ऊँचा है।

पुराने युग की ओर हम दृष्टिपात करते हैं और दूसरे धर्मों के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पाते हैं कि उन्होंने जन-जीवन के साथ अपना मेल नहीं बिठाया। धर्म अलग रहा और जन-जीवन अलग रहा। इस प्रकार दोनों का मेल नहीं हुआ तो जनता का कल्याण भी नहीं हुआ। अतः जैनधर्म ने एक बहुत महत्त्व-पूर्ण प्रेरणा दी। उसने जनता को और धर्म को अलग-अलग नहीं समझा। चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उसकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी धर्म से अलग नहीं है। धर्म मानव-जीवन से भिन्न नहीं हो सकता।

मनुष्य किसी भी सम्प्रदाय या पन्थ का अनुगमन करे, उसके जीवन में धर्म सतत ओतप्रोत रहना चाहिए। जैनधर्म ने जब इस दृष्टिकोण को सामने रक्खा तो उसने दूर-दूर तक की बातें कहीं। उसने हमें सोचने की प्रेरणा दी कि तुम्हें बोलना है, खाना-पीना है, उठना-बैठना है या कोई भी काम करना है, तो यह देखो कि इसमें धर्म है या नहीं? यहां तक कि वह चूल्हे और चौके तक भी धर्म को ले गया।

रोटी बनाना है, खाना-कमाना है, मकान बनवाना है, अर्थात् संसार में रहकर जीवन की जिन किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है, उन सब में अगर विवेक है, जनता के कल्याण का विरोध नहीं है, अपने आपको पाप से बचाने की प्रेरणा चल रही है, तो उतने अंशों में वह धर्म है।

जन्म से मरण पर्यन्त, जो भी काम हैं, उन सब के विषय में यही सोचना पड़ेगा कि उनमें तुम धर्म के रूप पर ध्यान देते हो या नहीं ? अगर उक्त प्रेरणाएँ तुम्हारे जीवन-व्यवहार में मौजूद हैं तो कहा जाएगा कि तुमने धर्म की ऊँचाई को समझा है और तुम्हारा जीवन धर्ममय है। और यदि उक्त प्रेरणाएँ व्यवहार में नहीं है, विवेक और जनकल्याण का भाव नहीं है, तो तुम्हारा जीवन अधर्ममय है।

दुर्भाग्य से जनता ने आज धर्म का दूसरा ही रूप समझ लिया है। लोग समझते हैं कि जब हम मन्दिर, मस्जिद, गिरजा या स्थानक में जाते हैं और वहाँ किसी प्रकार का क्रियाकाण्ड करते हैं तो धर्मोपार्जन कर लेते हैं। और ज्यों ही धर्मस्थान से बाहर निकले कि फिर हमारे जीवन का धर्म से कोई वास्ता नहीं रह जाता।

इस समझ के कारण जन-जीवन कलुषित बन जाता है। जीवन में एक रूपता नहीं पैदा हो पाती। आज का मानव धर्मस्थानक में घड़ी दो घड़ी के लिए जाता है तो धर्म की बातें करता है और किसी रूढ़ क्रियाकाण्ड से चिपट जाता है और ज्यों

ही बाहर निकलता है तो अपने आपको धर्म के सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त पाता है ! जहां जीवन में यह बहुरूपियापन है, वहाँ धर्म नहीं है।

मनुष्य रोटी खाकर नहीं कहता कि अब मैं फिर कभी रोटी नहीं खाऊँगा, कमाई का काम करके नहीं कहता कि बस, दो घड़ी कर चुका, अब नहीं करूँगा, मगर धर्म के विषय में कहता है घड़ी-दो-घड़ी धर्म कर लिया है, क्या दिन रात वही किया करूँ !

इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं ने आज जनता के जीवन को धर्म-विमुख बना दिया है।

किन्तु जैनधर्म यह कहता है कि धर्म-स्थान में जाकर विशेष आराधना करते हो, सामायिक-पौषध, स्वाध्याय-ध्यान, भजन स्मरण आदि करते हो, और जीवन का चिन्तन और प्रभु का स्मरण करते हो, सो सब ठीक है। किन्तु धार्मिक कर्त्तव्य की समाप्ति इतने में ही नहीं हो जाती। तुम्हें जनता के सम्पर्क में जहाँ कहीं जाना हो, धर्म के संस्कार लेकर ही जाना चाहिए। मकान पर और दूकान पर भी धर्म की वासना अन्तःकरण में बनी रहनी चाहिए। देश और विदेश में सर्वत्र धर्म की भावना जागृत ही रहनी चाहिए। नौकरी करते हो तो दफ़्तर में या कार्यालय में भी धर्म को साथ लेकर जाना चाहिए। आशय यह है कि जहाँ जीवन है वहाँ धर्म है, धर्म से अलग जीवन नहीं है। इस प्रकार जीवन जब धर्ममय बन जाता है, धर्म के रंग में रंग जाता है, तभी आत्मा का उत्थान होता है।

शास्त्र ने बतलाया है कि साधु की सामायिक जीवन-पर्यन्त के लिए होती है। साधु जब शास्त्रस्वाध्याय करता है, तप करता है, तब भी सामायिक में रहता है और जब गोचरी करता है और भोजन करता है, तब भी सामायिक में रहता है। जब जागता है, तब भी सामायिक में है और जब सोता है, तब भी सामायिक में है। ऐसा नहीं है कि निद्रा के समय सामायिक में अन्तराय पड़ जाता है, फलतः साधुपन जागते समय ही रहता हो और सोते समय न रहता हो।

शास्त्र के इस तथ्य पर कभी आपने विचार किया है ? खाते समय और सोते समय किस प्रकार सामायिक रह सकती है, इस प्रश्न पर आप विचार करेंगे तो धर्म का मर्म आपकी समझ में आ जायगा।

बात यह है कि साधु के जीवन में एक प्रकार की महक आ जाती है। जब महक आ जाती है तो वह रात में भी रहने वाली है और दिन में भी रहने वाली है। रात्रि में कमल बन्द हो जाता है, परन्तु महक उसमें बनी ही रहती है। जब फूल खिल जाता है और महक छोड़ना शुरू कर देता है तो दिन हो या रात, जब तक वह जीवित है, निरन्तर महकता ही रहेगा।

इसी प्रकार हमारे जीवन-पुष्प में जब चारित्र की सुगन्ध पैदा हो जाती है, तो वह दिन और रात निरन्तर महकती ही रहनी चाहिए।

तो साधु जीवन के सम्बन्ध में हम समझते हैं कि सारा ही

जीवन सामायिकमय है। किन्तु गृहस्थ की सामायिक कितनी देर की है ? जब यह प्रश्न आता है तो हम चट कह देते हैं—दो घड़ी की। अर्थात् दो घड़ी से पहले नहीं और दो घड़ी के बाद भी नहीं, किन्तु सिर्फ दो घड़ी तक ही गृहस्थ सामायिक में है।

यह अविचार समाज के जीवन में प्रवेश कर गया है। और इस रूप में जनता ने समझा है कि हमारी सामायिक तो इत्तरिया (इत्वरिक थोड़े काल के लिए) है और साधु की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है, थोड़ी देर के लिए नहीं।

किन्तु जैन धर्म के मर्म को और उसकी गहराई को जब देखते हैं तो मालूम होता है कि गृहस्थ की सामायिक भी यावज्जीवन के लिए होती है, थोड़ी देर के लिए नहीं होती।

औपपातिकसूत्र में वर्णन आता है कि यह अणुव्रत रूप से पालन किये जाने वाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत, नियम और प्रत्याख्यान आदि गृहस्थधर्म के अङ्ग गृहस्थ की सामायिक है। और यह सामायिक गृहस्थ के जीवन को अधिकाधिक विकाश तथा विस्तार में ले जाती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गृहस्थ के व्रत अगर गृहस्थ की सामायिक है तो क्या व्रत दो घड़ी के लिए होते हैं ? अगर ऐसा नहीं है और वे यावज्जीवन के लिए हैं तो गृहस्थ की सामायिक भी यावज्जीवन के लिए क्यों नहीं है ?

मुझे और भी जगह चर्चा करने का काम पड़ा है और यहाँ भी प्रसंग आ गया है। हमारे सामने एक प्रश्न है। वह

यह कि गृहस्थ का धर्म किस चारित्र के अन्तर्गत है ?

चारित्र पांच प्रकार के हैं। कहा है—

'सामायिक – छेदोपस्थाप्य – परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय – यथाख्यातानि चारित्रम् ।'

—तत्त्वार्थसूत्र ।

अर्थात्—(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापन (३) परिहार-विशुद्धि (४) सूक्ष्मसम्पराय और (५) यथाख्यात—यह पाँच चारित्र हैं।

तो गृहस्थ के बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ आदि जो चारित्र है, उसे इन पाँच में से किसमें सम्मिलित करें ? यह प्रश्न सामने आने पर विचार करने वाले साथी लड़खड़ाते रहे और कहने लगे—गृहस्थ के चारित्र ही कहाँ है ? उसके तो चारित्राचारित्र है। परन्तु मैं कहता हूँ कि यह ठीक है कि कुछ चारित्र है और कुछ नहीं है। तो जो नहीं है उसकी बात नहीं करते; पर हम यह जानना चाहते हैं कि जो चारित्र है, वह कहाँ का है ? किस चारित्र का भाग है ?

जो इस प्रकार नहीं समझते, उनसे मैं पूछता हूँ कि जो संवरद्वार हैं, उन्हें किस जगह रक्खा जाय ?

बाईस परिषह-विजय साधु के लिए ही कहे जाते हैं। यद्यपि हम ऐसा नहीं मानते, मगर हमारे साथी ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ भी साधु के लिए सुरक्षित रख ली गई हैं। उनमें भी गृहस्थ का प्रवेश नहीं है।

और क्षमा आदि दस धर्म भी साधु के लिए ही हैं। यह सब साधु के लिए ही हैं तो इनके बाद में गिने जाने वाले पांच चारित्र भी साधु के लिए ही होने चाहिएँ। इस प्रकार गृहस्थ के अहिंसा और सत्य आदि व्रत अगर संवर में स्थान नहीं पा सकते तो फिर क्या उनकी गणना आस्रव में की जायगी? यानी गृहस्थ का सब का सब धर्म, जो एक से एक उच्च दर्जे का है, उसे संवर में गिनें या आस्रव में? यह तो कोई नहीं कह सकता कि साधु की अहिंसा और सत्य तो संवर के अन्तर्गत हैं और गृहस्थ की अहिंसा और सत्य आदि आस्रव में सम्मिलित हैं।

अच्छा, गृहस्थ का धर्म अगर आस्रव के अन्तर्गत नहीं है तो संवर के अन्तर्गत होना चाहिए और यदि संवर के अन्तर्गत है तो प्रश्न फिर वही आया कि किस संवर के अन्तर्गत है? यही प्रश्न सब से जटिल है। संवर में चारित्र पाँच ही हैं और यदि उनमें से गृहस्थ के व्रतों को किसी में भी गणना नहीं हो सकती तो गृहस्थ की भूमिका क्या मूलतः अलग है? सिद्धान्त को देखने से ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। अगर कोई आगमों का अध्ययन और मनन ही न करे तो आगमों का क्या दोष है? कोई भूला-भटका प्यासा, एक-एक बूंद के लिए तरसता हुआ गंगा के किनारे पहुँच जाय और खड़ा-खड़ा एक-दो घड़ी गुजार दे और कहे कि मैं गंगा के किनारे आकर भी प्यासा हूँ तो इसमें गंगा का क्या दोष है? यह तो उसकी बुद्धि का ही

दोष है कि वह किनारे पर खड़ा रह कर भी गंगा के पानी का उपयोग नहीं करता है।

तो यही बात शास्त्र के सम्बन्ध में भी है। हमारे कई साथी किनारे पर खड़े रहते हैं, किन्तु शास्त्रों की गहराई में डुबकी नहीं लगाते। वे मिसरी को जेब में रखकर घूम रहे हैं और शिकायत करते हैं कि मिठास नहीं आ रही है! अरे भाई, मुँह में डाले बिना मिसरी की मिठास कैसे आएगी? इसी प्रकार शास्त्रों का चिन्तन, मनन और विश्लेषण करने पर भी अगर रस न आए तो विचार किया जा सकता है, किन्तु हमारे आगमों में तो सभी प्रश्न सुलझे पड़े हैं। हमारी उलझन तो समझ में है, शास्त्रों में नहीं।

हाँ, तो औपपातिक सूत्र में स्पष्ट वर्णन आता है कि—

अगारधम्मं दुवालस्सविहं आइक्खइ तंजहा-पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं।

पंचअणुव्वयाइं तंजहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाओवेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणं।

तिण्णिगुणव्वयाइं तंजहा-अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोग-परिभोग परिमाणं।

चत्तारि सिक्खावयाइं तंजहा-सामाइयं, देसावगासियं पोसहोव-वासे, अतिहिसंविभागो।

अपच्छिम मरणांतिया संलेहणा झूसणाराहणाए।

अयमाउसो ! अगारसमाईए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासियावा, विहरमाणे आणाए आराहए भवंति। १३४। —धर्म देशनाधिकार।

गृहस्थ के अणुव्रत आदि बारह व्रत हैं, यही सामायिक है और यह सामायिक, सामायिक चारित्र का अंग है। अब आप विचार कर सकते हैं कि सामायिक चारित्र क्या सिर्फ़ दो घड़ी के लिए ही होता है?

जीवन-पर्यन्त कहा जा सकता है कि श्रावक की सामायिक यदि निरन्तर चलती रहती है तो फिर दो घड़ी तक सामायिक करने की जो परम्परा चल रही है, वह क्या ग़लत है? यह परम्परा क्यों चली?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, सुबह, शाम दो घड़ी तक की जाने वाली सामायिक विशिष्ट सामायिक है। और उस सामायिक को करने का विधान तो मुनियों के लिए भी था।

आवश्यक छह हैं और अनुयोगद्वार में उल्लेख है* कि दोनों काल छहों आवश्यक करने चाहिएँ। अब आप बतलाएँ कि साधुओं की सामायिक जब निरन्तर जारी रहती है तो फिर दोनों काल सामायिक करने का विधान उनके लिए क्यों किया गया? उनका प्रत्याख्यान भी सदैव बना रहता है, फिर

** समणेणं सावएण य अवस्स कायव्वं हवइ जम्हा,*
अंतो अहोनिसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम।

प्रत्याख्यान आवश्यक करने की क्या आवश्यकता है ?

तो अभिप्राय यह है कि आवश्यक की सामान्य धारा तो निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, किन्तु उसे वेगवान्, स्फूर्तिमय और सबल बनाने के लिए सुबह-शाम विशेष रूप से सामायिक आदि आवश्यक करने का विधान है। यही विधान गृहस्थ के लिए है और यही साधु के लिए भी है।

प्राचीन काल में यह बड़ी अच्छी बात थी कि प्रतिक्रमण खुले बदन ही किया जाता था, जिससे उस समय आने वाले कष्टों को, समभाव से, अधिक सहन किया जा सके।

इस रूप में जितनी देर प्रतिक्रमण चले, उतनी देर तक विशिष्ट सामायिक करने का हमारे लिए भी पुरातन विधान था।

मतलब यह है कि श्रावक में भी सामायिक चारित्र होता है और वह दिन-रात, घर में और घर से बाहर भी चलना चाहिए। घर में हो तब भी और दूकान में हो तब भी, वह सामायिक चालू ही रहनी चाहिए। अहिंसा और सत्य की वह सामायिक, जिसकी शिक्षा उववाईसूत्र में है, सोते-जागते, धर्म-स्थानक में, दूकान में और मकान में, सर्वत्र सर्वदा चलना चाहिए। आपका श्रावकपन ऐसा नहीं है कि जब धर्मस्थान में आये तो आ गया और जब धर्म स्थान छोड़ कर घर पर पहुँचे कि चला गया ! वह तो जीवन-पर्यन्त निरन्तर क़ायम रहने वाला है। इसका अर्थ यह है कि संवर-रूप में सामायिक धर्म है और वह जीवन पर्यन्त के लिए है।

इस प्रकार जैनधर्म ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रेरणा रक्खी है कि धर्म जनता के जीवन के साथ घुल-मिल जाना चाहिए।

जहाँ जीवन है वहाँ सामायिक है और जहाँ सामायिक है, वहाँ धर्म है। इस तरह जीवन, सामायिक और धर्म को एक रूप में समझ लेने पर सारी स्थिति ही बदल जाती है और एक बहुत बड़ी भ्रान्त धारणा दूर हो जाती है।

आज सामान्य रूप से लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि धर्म स्थान में आये और सामायिक कर ली और ज्यों ही सामायिक पार ली कि फिर उससे कोई सरोकार नहीं। फिर आएँगे और फिर दो घड़ी सामायिक कर लेंगे! जैसे विदेशों में धर्म रविवार के रविवार, गिर्जे में करने की चीज़ रह गई है, उसी प्रकार हमारी सामायिक भी दो घड़ी पालन करने की वस्तु बन गई है। कई लोग तो पर्युषण पर्व के आठ दिनों में ही आते हैं और धर्म कर लिया करते हैं, फिर साल भर के लिए .फ़ुरसत पा लेते हैं। फिर पर्युषण पर्व आया तो फिर लूट का माल लेने आ पहुँचते हैं।

अधिकाँश लोगों की इस प्रकार की मनोवृत्ति क्यों है? इसका प्रधान कारण तलाश करेंगे तो मालूम होगा कि धर्म और जीवन को अलग-अलग समझना ही इसका कारण है। वास्तव में धर्म हमारे जीवन का अंग है और श्वास की तरह जीवन के साथ रहना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नियम भी जीवन के साथ घुले-मिले रहने चाहिए।

बात यहाँ अस्तेय की चल रही है। जो बात अहिंसा और सत्य के सम्बन्ध में है, वही अस्तेय के सम्बन्ध में भी है। अस्तेय हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। हमें सोचना है कि उसका नम्बर तीसरा क्यों है?

अहिंसा और सत्य की कसौटी अस्तेय है। आपने अहिंसा और सत्य का नियम ले लिया है, परन्तु वह आपके जीवन में कितना विकसित हुआ है अथवा नहीं हुआ है, इस बात की परीक्षा अस्तेय के द्वारा ही होती है।

एक आदमी जीवन के लिए दो रोटियाँ तलाश करने को इधर-उधर काम करता है। और जब घर से निकल पड़ता है तो संघर्ष में लग जाता है। वहां वह यही विचारता है कि भले न्याय से मिले या अन्याय से, रोटी मुझे मिलनी ही चाहिए! उसके लिए दूसरों का ख़ून बहता हो तो बहे, पसीना बहता हो तो बहे, मेरी रोटी में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। दूसरे का हक़ है तो भले रहे, पहले मुझे मिलनी चाहिए। दूसरा भूखा है तो मेरी बला से, मुझे कोई कमी न हो!

ऐसी परिस्थिति में अहिंसा और सत्य की जड़ें हिल जाती हैं। अहिंसा की कसौटी किसी धर्मस्थान में बैठने पर नहीं होती, वह तो जीवन-व्यवहार में होती है। धर्म-क्षेत्र में नहीं, कर्म-क्षेत्र में होती है। इसी प्रकार किसी ने सत्य भाषण करने का नियम ले लिया है, तो दो घड़ी के लिए धर्मस्थान में बैठने पर उसके सत्य की परीक्षा नहीं होगी। सत्य की परीक्षा तो वहीं होगी

जहाँ आप जीवन के लिए संघर्ष करेंगे। अगर आप वहां अस्तेय व्रत का पालन करते हैं, न्याय-नीति से ही जीवन-व्यवहार चलाते हैं, दूसरों का हक़ नहीं छीनते हैं, प्रामाणिकतापूर्वक जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त करते हैं, तो समझा जायगा कि आपका अहिंसा और सत्य व्रत अक्षुण्ण है। इस प्रकार अचौर्य व्रत, सत्य और अहिंसा की कसौटी है, निचोड़ है, फल है!

जब तक मनुष्य घर गृहस्थी में रहता है, अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ व्यापार करना उसके लिए आवश्यक है। उसे साधु की तरह झोली लेकर भिक्षा नहीं माँगनी है। उसे तो पुरुषार्थ से कमाना है। एक आचार्य ने कहा है कि जो गृहस्थ सशक्त है, जिसमें काम करने की शक्ति है, वह यदि अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता और केवल भिक्षावृत्ति के ऊपर ही जीवन-निर्वाह करता है, तो वह देश और समाज की चोरी कर रहा है। वह राष्ट्र का गुनहगार है। आचार्य हरिभद्र ने उसकी भिक्षा को 'पौरुषघ्नी' भिक्षा बतलाया है।* ऐसी भिक्षा उसके पुरुषार्थ को टुकड़े-टुकड़े कर देने वाली है।

जिस देश में ऐसी भिक्षा की प्रणाली होगी, उस देश के नागरिकों के व्यक्तित्व की ऊँचाई नष्ट हो जायगी। न भिक्षा लेने वाला ही ऊँचा चढ़ेगा, न देने वाला ही ऊँचा चढ़ सकेगा। वह अकर्मण्यता पैदा करेगी। इस प्रकार भिक्षा मांगने वाला,

*देखो 'भिक्षाष्टक'

भिक्षा के द्वारा अगर हज़ारों रुपये भी पैदा कर लेता है, तो भी वह प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

साधुओं के लिए भी कहा है कि वास्तव में जो साधुवृत्ति का पालन नहीं करता और भिक्षा के द्वारा जीवन चला रहा है, उसको भिक्षा भी आत्म-पुरुषार्थ रूप संयम को नष्ट करने वाली है।

तात्पर्य यह है कि समर्थ और सशक्त आदमी को गृहस्थी में रहते हुए भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं हैं। उसे निर्वाह के लिए पुरुषार्थ करने का अधिकार है।

दो आदमी मिलते हैं। उनमें से एक कहता है, मैं नौकरी करता हूँ या मज़दूरी करता हूँ और अपनी रोटी कमाता हूँ। दूसरा कहता है कि मैं तो कुछ भी नहीं करता। सब कुछ करने में पाप है। अतः मैं भिक्षा लाकर खा लेता हूँ। आरम्भ-समारम्भ के झगड़े में नहीं पड़ता।

इस प्रकार एक मनुष्य जीवन निर्वाह के लिए पुरुषार्थ करता है और दूसरा संसार त्यागी न होता हुआ भी भिक्षावृत्ति करता है तो आप इनके विषय में क्या कहते हैं? किसे पापी और किसे पुण्यात्मा कहते हैं?

जैन समाज भी 'प्रासुक' और 'निरवद्य' के रहस्य को ठीक तरह ध्यान में न रखकर भ्रम में पड़ गया है। किसी समय यही शब्द अत्यन्त महान् थे, और उनमें पवित्रता का भाव था, पर आज उनका उपहास-सा किया जा रहा है! इन शब्दों के ग़लत

प्रलोभन में पड़कर लोग दलदल में फँस रहे हैं। जो व्यक्ति अकर्मण्यता के वशीभूत होकर, प्रमाद का शिकार होकर, पुरुषार्थ का त्याग कर देता है और सीधी-निरवद्य रोटी खाता है, वह निरवद्य की महान् कला को भूल गया है। ऐसा करने वाला प्रमादी, धार्मिक नहीं, अधार्मिक है।

इस प्रकार पुरुषार्थ करके रोटी कमाना गृहस्थ का धर्म है, मगर रोटी रोटी के ढंग से कमानी है। उस ढंग का जब विचार किया तो जीवन में व्यापार आ गया। तो व्यापार करना गुनाह नहीं है और पुरुषार्थ करना अधर्म नहीं है, किन्तु अपने उत्तरदायित्त्व को न्याययुक्त पूरा न करना अधर्म है।

तो अस्तेयव्रत बतलाता है कि मनुष्य किस प्रकार का पुरुपार्थ करे और किस ढंग से अपनी आजीविका चलाए? मनुष्य का जीवन धर्मस्थान में और दूकान में एक रूप होना चाहिए।

मैंने कहा था कि दूकान हमारी संस्कृति का केन्द्र है। दूकान पर सैकड़ों आदमी आते हैं और चहलपहल रहती है। वह एक गद्दी है। उसके द्वारा दूकानदार जनता के चित्त में प्रेम का संचार कर सकता है और धर्म तथा नीति की छाप अंकित कर सकता है। इसके विपरीत जो गद्दी पर प्रामाणिक नहीं है, वह अपने को और अपने देश और समाज को बदनाम कर सकता है। यह उसके हाथ में है कि वह अपने धर्म, देश, समाज और राष्ट्र की कालिख को धो डाले या और पोत दे।

मैं व्यापारी की महत्ता तभी मानता हूँ, जब वह एक रूप हो। अर्थात् कोई भी बालक, बूढ़ा, बहिन, जान-पहचान का या अनजान व्यक्ति आए तो वह किसी से भी धोखा न करे और यही समझे कि जैसे मेरा बालक, बाप, बहिन आदि हैं, उसी प्रकार यह भी समाज के अंग होने से मेरे हैं। और जब मैं अपने घर वालों के साथ किसी प्रकार का धोखा नहीं करता, तो इनके साथ भी मुझे धोखा नहीं करना चाहिए। जैसे मैं अपने परिवार के प्रति प्रामाणिक हूँ, उसी प्रकार मुझे इनके प्रति भी प्रामाणिक होना चाहिए। इस प्रकार की प्रामाणिकता जिस व्यापारी में आ गई है, वही आदर्श और धार्मिक व्यापारी है। और जिसमें यह प्रामाणिकता नहीं, वह गद्दी पर बैठकर अपना और दूसरों का जीवन नष्ट कर रहा है। वह धार्मिक क्रिया-काण्डों का कितना ही क्यों न प्रदर्शन करे; सच्चे अर्थ में धार्मिक नहीं है।

किसी भी धर्म के अनुयायी की अपने धर्म के प्रति यही सबसे बड़ी सेवा है कि वह अपने जीवन व्यवहार में एकरूपता रक्खे। जिसने यह कला प्राप्त कर ली है, उसने शानदार धार्मिकता प्राप्त कर ली है। उसके पास चाहे बूढ़ा आए, चाहे अबोध बालक आए, चतुर आए या मूर्ख आए, सब के साथ उसका व्यवहार एकरस ही होगा। वह अपनी प्रामाणिकता का रेकार्ड क़ायम कर लेगा। जो ऐसा कर लेता है, मैं समझता हूँ कि वह बड़ा काम कर रहा है। वह अपने

जीवन को उत्कर्ष की भूमिका पर पहुँचा रहा है और साथ ही अपने धर्म का, देश का और समाज का गौरव बढ़ाकर उनकी महान् सेवा कर रहा है।

भला, मुँह देख तिलक लगा देना भी कोई भलमनसाहत है! आप पहुँचे तो एक रूप और दूसरा पहुँचा तो दूसरा रूप! यह तो बहुरूपिये की तरह रहना है और गिरगिट की तरह रंग बदलना है! ऐसी जगह सत्य और अहिंसा नहीं रहती। अतएव भगवान् महावीर की आज्ञा है कि जहाँ कहीं भी रहो, इस प्रकार रहो कि आपस में किसी प्रकार की कटुता न आए।

मुझे एक जैन गृहस्थ की बात याद है! शहर में एक भद्र ग्रामीण आया। उसने सोने की कंठी बनवाई थी। सुनार की दूकान से कंठी लेकर दूसरा सौदा खरीदने के लिए वह उस जैन गृहस्थ की दूकान पर गया। उसने सौदा ले लिया और कंठी वहीं भूल गया। अपना शहर का काम पूरा करके वह गाँव की ओर चल पड़ा। आधे रास्ते में पहुँचा तो ध्यान आया कि कंठी नहीं है! बहुत सोचने विचारने पर भी ख्याल न आया कि वह कंठी कहां भूल आया है? वह कई जगह बैठा था और उसे याद नहीं था कि कंठी किसकी दूकान पर रह गई।

वह घबराया हुआ शहर की ओर लौटा। अपनी पैनी दृष्टि से दूकानों पर देखता चला जा रहा है। पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती। बिना पते के पूछे भी तो किससे पूछे? चलता-चलता वह

उसी जैन गृहस्थ की दूकान के सामने होकर निकला। उसने सोचा-इस दूकान पर भी मैं बैठा था। पर बड़ी दूकान थी। कंठी के विषय में पूछने का साहस उसे नहीं हो सका।

जैन गृहस्थ ने उस कंठी को संभाल कर रख लिया था। और सोचा था कि वह लौट कर आएगा तो दे दूंगा, और यदि नहीं आया तो कोतवाली में जमा करा दूंगा।

दूकानदार ने उसे मुँह लटकाए, दूकान की ओर देखते हुये देखा तो कहा, भाई, ज़रा इधर आना! क्या तुम्हारी कोई चीज़ गुम हो गई है?

आगन्तुक-हां, गुम तो हो गई है।

दूकानदार—कहाँ?

आगन्तुक—यह तो कुछ याद नहीं आता। कई जगह बैठा था।

दूकानदार—क्या चीज़ थी? और कहाँ से ली थी?

आगन्तुक ने चीज़ का नाम बतला दिया और सुनार का नाम भी बतला दिया।

दूकानदार ने कंठी उसे लौटा दी और कहा—ज़रा सावधानी रखनी चाहिए, वर्ना कभी ठोकर खाओगे।

कंठी का मालिक, दूकानदार के पैरों पर गिर पड़ा। बोला—आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।

कंठी वाला अपने गाँव पहुँचा। उसने गाँव में दूकानदार की प्रशंसा में कहा, "वह मनुष्य नहीं, देवता है। हाथ में पड़ी

हुई चीज़ को उसने लौटा दिया !

इसका प्रभाव यह हुआ कि सारा गाँव उसका ग्राहक हो गया।

जो अपनी प्रामाणिकता के कारण जनता का विश्वास-भाजन बनेगा, वह अपने आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठा सकेगा और लोक-दृष्टि से भी टोटे में नहीं रहेगा। मगर ऐसा करने के लिए पहले-पहल प्रलोभन का त्याग करने की आवश्यकता है और क़दम-क़दम पर बड़े संयम की अपेक्षा है। प्रारंभ में थोड़ा नफ़ा लेना शुरू कर दिया तो आगे चलकर वह थोड़ा नफ़ा ही उसके लिए बड़ा नफ़ा बन जायगा। हमारे आचार्यों ने कहा है—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।

पढ़ो तो लूट मत करो। यह मत करो कि यह भी पढ़ लिया और वह भी पढ़ लिया और दुनिया भर की किताबों को पढ़ लिया। अति अध्ययन जीवन में गहराई पैदा नहीं करेगा।

इसी प्रकार धन को भी एक बारगी ही लूट लेने की हवस जीवन को ऊँचा नहीं उठने देती।

खेत में एक बार ही मूसलधार वर्षा हो जाय और जल-थल एक कर दे तो इस रूप में पड़ा हुआ पानी खेती को बनाता है या बिगाड़ता है ? ऐसी वर्षा फ़सल को विनष्ट कर देगी और जमीन को भी बर्बाद कर देगी। किन्तु सावन और भादों में, जब आकाश में झूमती हुई घटाएँ आती हैं और रिमझिम बूँदें बरसती हैं, तो एक-एक बूंद भारतवर्ष की भूमि

पर सोना—चाँदी उगलती है। फलतः बड़ी सुन्दर फ़सल उपजती हैं।

स्मरण रक्खो कि एकदम से आया हुआ पानी का प्रवाह कुछ देकर नहीं, लेकर जाता है, सहसा आई हुई बाढ़ किसी का भी कल्याण नहीं करती, बल्कि मुसीबतें ढा देती है, इसी प्रकार सहसा बिना श्रम और बिना प्रामाणिकता के प्राप्त हुआ धन भी कल्याणकारी नहीं होता।

तो हमारे यहाँ के कमाई करने वालों को चाहिए कि वे रुपयों की बाढ़ के रूप में कमाई न करें—छापामार बन कर दुनिया की फ़सल को नष्ट न करें। जो छापामारी करते हैं, वह अपने परिवार पर भी अच्छे संस्कार नहीं छोड़ते। परिवार में भाई-भाई में और माता-पिता में भी पारस्परिक सद्भावना क्यों दिखाई नहीं देती? दूसरों का जीवन चूस-चूस कर जो कमाई की जाती है, वह एक प्रकार की आग है। वह जहाँ जाती है, वहीं शान्ति को जला देती है। दूकान में भी वह अशान्ति ही पैदा करती है और घर में भी। अनीति की कमाई परिवार के लोगों के जीवन को भी गला देती है। ऐसे धन को धर्मशास्त्रों ने भी अशान्ति का मूल कारण बतलाया है और न्यायोपार्जित धन को शान्ति का कारण बतलाया है। आचार्य हरिभद्र ने तो साफ़ कहा है:—

'न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहिताय'।

—धर्मविन्दुप्रकरण।

अर्थात्-न्याय से उपार्जित धन दोनों लोकों में कल्याणकर होता है। जो लोग धन को यहाँ के हित के लिए समझते हैं, उन्होंने बड़ी गड़बड़ी पैदा की है। ऐसी समझ से चलने वाले अपनी सन्तान के लिए भी इस लोक से विदा होते समय ग़लत चीज़ छोड़कर जाते हैं और परलोक में भी उनको उनके काम के सुन्दर फल प्राप्त नहीं होते। इसीलिये आचार्यों ने न्यायोपात्त धन को उभय लोक के हित के लिये बताया है। मतलब यह है कि मनुष्य को धन कमाते समय इस लोक और परलोक—दोनों ओर अपनी आँखें रखनी चाहिए।

पैसा अपने आप में कोई बुरी या भली चीज़ नहीं है। उसकी पृष्ठ भूमि में रही हुई मनोवृत्ति ही भलाई-बुराई की जननी है।

अगर पैसा न्याय से कमाया हुआ है और उसके लिये ग़रीबों के ख़ून की होली नहीं खेली गई है, तो ऐसी न्याययुक्त कमाई करने वाला अपने प्रस्तुत लोक में भी हँसता हुआ, निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर, चलता है और परलोक में भी।

न्याययुक्त धन का दान इस लोक में लेने वाले के हक़ में बरक़त करता है और दाता के भी दोनों लोकों को हितकर बनाता है। इसके विपरीत अन्याय का धन इस लोक में तो गड़बड़ करता ही है, परलोक में भी गड़बड़ करना शुरू कर देता है।

इसीलिये कहा जाता है कि गृहस्थों के जीवन में अगर

पर सोना—चाँदी उगलती है। फलतः बड़ी सुन्दर फ़सल उपजती है।

स्मरण रक्खो कि एकदम से आया हुआ पानी का प्रवाह कुछ देकर नहीं, लेकर जाता है, सहसा आई हुई बाढ़ किसी का भी कल्याण नहीं करती, बल्कि मुसीबतें ढा देती है, इसी प्रकार सहसा बिना श्रम और बिना प्रामाणिकता के प्राप्त हुआ धन भी कल्याणकारी नहीं होता।

तो हमारे यहाँ के कमाई करने वालों को चाहिए कि वे रुपयों की बाढ़ के रूप में कमाई न करें—छापामार बन कर दुनिया की फ़सल को नष्ट न करें। जो छापामारी करते हैं, वह अपने परिवार पर भी अच्छे संस्कार नहीं छोड़ते। परिवार में भाई-भाई में और माता-पिता में भी पारस्परिक सद्भावना क्यों दिखाई नहीं देती? दूसरों का जीवन चूस-चूस कर जो कमाई की जाती है, वह एक प्रकार की आग है। वह जहाँ जाती है, वहीं शान्ति को जला देती है। दूकान में भी वह अशान्ति ही पैदा करती है और घर में भी। अनीति की कमाई परिवार के लोगों के जीवन को भी गला देती है। ऐसे धन को धर्मशास्त्रों ने भी अशान्ति का मूल कारण बतलाया है और न्यायोपार्जित धन को शान्ति का कारण बतलाया है। आचार्य हरिभद्र ने तो साफ़ कहा है:—

'न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहिताय'।

—धर्मबिन्दुप्रकरण।

अर्थात्-न्याय से उपार्जित धन दोनों लोकों में कल्याणकर होता है । जो लोग धन को यहीं के हित के लिए समझते हैं, उन्होंने बड़ी गड़बड़ी पैदा की है । ऐसी समझ से चलने वाले अपनी सन्तान के लिए भी इस लोक से विदा होते समय ग़लत चीज़ छोड़कर जाते हैं और परलोक में भी उनको उनके काम के सुन्दर फल प्राप्त नहीं होते । इसीलिये आचार्यों ने न्यायोपात्त धन को उभय लोक के हित के लिये बताया है। मतलब यह है कि मनुष्य को धन कमाते समय इस लोक और परलोक—दोनों ओर अपनी आँखें रखनी चाहिए।

पैसा अपने आप में कोई बुरी या भली चीज़ नहीं है। उसकी पृष्ठ भूमि में रही हुई मनोवृत्ति ही भलाई-बुराई की जननी है।

अगर पैसा न्याय से कमाया हुआ है और उसके लिये ग़रीबों के ख़ून की होली नहीं खेली गई है, तो ऐसी न्याययुक्त कमाई करने वाला अपने प्रस्तुत लोक में भी हँसता हुआ, निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर, चलता है और परलोक में भी ।

न्याययुक्त धन का दान इस लोक में लेने वाले के हक़ में बरक़त करता है और दाता के भी दोनों लोकों को हितकर बनाता है । इसके विपरीत अन्याय का धन इस लोक में तो गड़बड़ करता ही है, परलोक में भी गड़बड़ करना शुरू कर देता है ।

इसीलिये कहा जाता है कि गृहस्थों के जीवन में अगर

न्यायनीति हो, प्रामाणिकता हो, तो वह साधुओं के जीवन को भी सुन्दर बना देती है। साधु चाहे संख्या में थोड़े ही हों, उनका जीवन सत्य के रंग से रंगा हुआ होना चाहिये। साधुता से युक्त साधु तो थोड़े ही होते हैं। हर किसी को झोली पकड़ाने से क्या लाभ? भारतवर्ष में आज साधुओं की जो बाढ़ आ गई है, वह कल्याणकर नहीं है। सच्ची साधुता तो थोड़ों में ही मिलेगी। एक कवि ने कहा है—

साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।

वास्तव में इस देश में अब इतनी बाढ़ की ज़रूरत नहीं। बाढ़ का पानी देश को डुबाने वाला होता है। यहां तो कुए का जल चाहिए। प्रामाणिकता और सत्य के जल से लबालब भरे हुए थोड़े ही साधक हितकर होते हैं। इसी तरह न्यायपूर्वक धन कमाने वाले थोड़े ही मिलेंगे पर वे ही देश के सच्चे हितचिन्तक हैं। ऐसे मुट्ठी भर व्यक्ति भी देश के नैतिक धरातल को ऊँचा उठा सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कमाया हुआ धन कुए के जल के समान होता है। जैसे कुए का जल पत्थरों में से छनछन कर, पवित्र और शीतल बनकर आता है और सैकड़ों वर्षों तक लोगों की प्यास बुझाता रहता है। उसी तरह न्यायोपात्त धन भी प्रामाणिकता और सत्य से छन कर आता है और वह देश-वासियों को चिरकाल तक शान्ति देने वाला होता है। ऐसे धन ने ही एक दिन देश के व्यापार को समृद्ध बना दिया था। भारत की प्रामाणिकता की छाप नीतिपूर्ण कमाई के कारण ही

विदेशों पर पड़ी थी। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में तो, इतिहास कहता है, घरों में ताले भी नहीं लगाये जाते थे। उस समय इस देश की नैतिकता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी। भारत के व्यापारियों ने चीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में व्यापार किया, पर अपनी नैतिकता और प्रामाणिकता नहीं खोई। उन्होंने उन देशवासियों पर अपनी नैतिकता की वह छाप छोड़ी, जिसके चिह्न आज भी यत्र-तत्र उन देशों के सांस्कृतिक जीवन में बिखरे पड़े हैं। इसीलिए भारत में, प्राचीन काल में, प्रत्येक परिवार में, यह सुवर्णसूत्र प्रचलित था—'अगर तू दूकानदारी करना चाहता है तो न्याय से ही धन की कमाई कर। वही तेरी ज़िन्दगी को हराभरा रख सकेगी।'

परन्तु खेद है कि आज भारत ने अपनी नैतिकता को भुला दिया है। आज बेईमानी और चोरबाज़ारी इतनी बढ़ गई है कि सारे देश में इसने अनीति की आग लगा दी है। यह देश, आर्य देश नहीं, अनार्यों का सा देश बन गया है। चोर-बाज़ारी करने वालों ने सारे देश को कलंकित कर रक्खा है। इससे चोर-बाज़ारी करने वालों का नैतिक पतन होता है सो तो होता ही है, समग्र देशवासियों का भी नैतिक बल क्षीण होता जा रहा है।

आज भारत की नैतिकता को टटोलेंगे तो मालूम पड़ेगा कि ६० फ़ी सदी नैतिकता ग़ायब हो गई है। यही कारण है कि आज धर्मस्थानों में भी लोगों की जेबें कट जाती हैं। ऐसे पवित्र स्थानों में भी जूते चुरा लिए जाते हैं। जिस देश में,

धर्मस्थानों में भी जूते सुरक्षित नहीं रहते, वहाँ की नैतिकता कितनी गिर गई है, यह अनुमान करना कठिन नहीं है।

भारत के इतिहास में अग्निकुमार नामक एक भाई की कहानी आती है। एक बार वह किसी दूकानदार की दूकान के बाहरी बरामदे में सो गया। दूकानदार संध्या समय, अपनी रोकड़ मिलाते समय, अशर्फ़ियाँ गिन रहा था। उसने गिन-गिना कर रोकड़ मिलाई और दूकान बंद करके घर चला गया। पर भूल से वहां एक अशर्फ़ी पड़ी रह गई। अग्निकुमार बाहर सोया हुआ था। उसके पास बिछाने के लिए टाट का एक टुकड़ा ही था। अचानक ही उसे कोई चीज़ टाट के नीचे गढ़ने लगी। उसने हाथ लगाकर देखा तो अशर्फ़ी !

अग्निकुमार ने सोचा-कल दूकानदार अशर्फ़ियाँ गिन रहा था, उसी की यह अशर्फ़ी बाहर रह गई होगी। सुबह जब दूकानदार वापिस आया, तब तक अग्निकुमार वहीं बैठा रहा। उसने दूकानदार से आते ही कहा—भाई बहुत देर से आये। अब अपनी दूकान संभाल लो। मैं जा रहा हूँ।

दूकानदार:—दूकान तो सँभली हुई ही है, इसका क्या सँभालना है ? दूकान का ताला बंद था और तुम बाहर ही थे। मेरे लिए इतना समय क्यों ख़राब किया ?

अग्निकुमार—मैं चला तो जाता, पर इस अशर्फ़ी ने नहीं जाने दिया। अचानक रात्रि में यह गढ़ने लगी। देखा, अशर्फ़ी है। सोचा, तुम्हारी ही होगी। रात भर, इसकी चिन्ता में नींद नहीं आई।

निश्चय किया, सुबह इसे सँभला कर ही अपना रास्ता लूँगा।

दूकानदार अग्निकुमार की सचाई और प्रामाणिकता देख कर मुग्ध हो गया। उसने अग्निकुमार का बड़ा सत्कार किया, उसे धन्यवाद दिया और अशर्फ़ी लेकर कहने लगा, लो, यह अशर्फ़ी मैं तुम्हें इनाम में देता हूँ।

बहुत मनुहार करने पर भी अग्निकुमार ने अशर्फ़ी लेना स्वीकार न किया।

इसे कहते हैं प्रामाणिकता का जीवन! जिसके जीवन में प्रामाणिकता और न्यायनीति होती है, वह किसी भी सच्ची बात को कहते हुए हिचकता नहीं है। फलतः चाहे वह कितना ही क्यों न ग़रीब हो, सर्वत्र उसका आदर होता है।

आज के भारतीय लोगों के जीवन में प्रामाणिकता और नीति का जो ह्रास हो गया है, उसे देखकर किस विचारक को मार्मिक व्यथा न होगी? देश के लिए यह बड़ा ही अशुभ लक्षण है। वर्तमान युग में इस देश के निवासियों का जितना नैतिक पतन हुआ है, संभवतः, पहले कभी नहीं हुआ था।

पर, इसका इलाज एक ही है। आर्य ऋषियों ने अस्तेय की भव्य भावना का जो उच्च आदर्श प्राचीन काल में जनता के समक्ष रक्खा था, उसको पुनर्जागृत किए बिना काम नहीं चलेगा। अस्तेय वृत्ति का विकास ही इस देश की संस्कृति और पवित्र परम्परा को क़ायम रख सकता है।

ब्यावर,
१-११-५०।

विवेक

मनुष्य का जीवन किस प्रकार ऊँचा उठ सकता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर संसार के सभी धर्मों ने विचार किया है। सभी ने अपने-अपने ढंग से, जीवन को उच्च स्तर पर पहुँचाने के उपायों का भी निर्देश किया है। परन्तु मानव जीवन के उच्चतम विकास की विचारणा जैनधर्म ने जिस ऊँचाई तक की है, वह अन्यत्र बहुत कम दिखलाई पड़ती है। जीवन के विकास का जो चरम आदर्श जैनधर्म ने प्रस्तुत किया है, उसकी समानता अन्यत्र कहाँ है। हमारे कुछ साथियों ने देवी-देवताओं की आराधना और गुलामी में जीवन की उच्चता की अभिव्यक्ति देखी, देवी-देवताओं को उच्चतम मानवीय विकास का चरम प्रतीक माना, पर, जैनधर्म ने कहा कि मनुष्य का जीवन उस

स्तर तक ऊंचा उठ सकता है कि देवता भी उसके चरणों में नमस्कार करके अपने आपको धन्य और कृतार्थ समझें। और इस स्थिति पर पहुँचकर भी विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो जाता। मनुष्य उससे भी आगे चलता है और साक्षात् परमात्मतत्त्व की उपलब्धि करके ही कृतकृत्य होता है।

पर जान पड़ता है, आज जैनधर्म के अनुयायी भी उस ऊँचाई को नहीं समझ पा रहे हैं। उनका हृदय इतना संकीर्ण और मस्तिष्क इतना क्षुद्र हो गया है कि वह विराट और विशाल उच्चता, आज उनमें समा नहीं रही है।

दूसरे लोग भूल करें तो करें। उनकी भूल समझ में आ सकती है, पर जैनधर्म का अनुयायी जब इस विषय में भूल करता है, तो विस्मय भी होता है और खेद भी होता है। हम समझते हैं कि उन्होंने भगवान् महावीर की वह वाणी, भुला दी है, जिसमें कहा गया है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

—दशवैकालिक, १, १

प्रश्न है कि हम संसार में आनन्द और सुखशान्ति कहाँ से पाएँ। चींटी से लेकर स्वर्ग के देवी-देवता तक उस शान्ति और सुख की तलाश में हैं और दुःख से अपने जीवन को बचाना चाहते हैं। पर वह आनन्द है कहाँ?

भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार तो वह आनन्द, न

धन में है, न परिवार में है और न दुनिया के किसी अन्य सुखोपभोग में है। संसार के वैभव जितने बढ़ते जाते हैं, क्या आनन्द भी उतना ही बढ़ता जाता है? ऐसा तो दिखाई नहीं देता। कभी-कभी, जब वैभव बढ़ता जाता है तो आनन्द कम होता जाता है और जीवन का रस सूखता जाता है। विचारने वाले लोग कभी-कभी महसूस करते हैं कि यह क्या हो गया।

एक भाई हमारे भक्तों में से है। वह पहले ग़रीब था, अब मालदार है। एक दिन उसने हमारे सामने अपना अन्तर खोल कर रक्खा। कहने लगा, जब मैं ग़रीब था तो देने की बुद्धि होती थी। कोई स्वधर्मी बन्धु आता तो उसे अच्छे से अच्छा भोजन खिलाने की और प्रेम से जिमाने की इच्छा होती थी। घर में किसी चीज़ की ज़रूरत पड़ती तो टालने की आदत नहीं थी। समझता था कि—पैसा आज है और कल नहीं है। अतः जो कुछ मिला है, उसका उपयोग क्यों न कर लूँ? किन्तु ज्यों-ज्यों पैसा बढ़ता गया, वह बुद्धि घटती गई। अब वैसे भाव नहीं आते हैं। दान लेने को कोई आता है तो मन मार कर देता हूँ। वह उत्साह निकल गया है।

यह बात उसने स्पष्ट रूप में कही तो मैंने कहा—तुम भाग्यशाली हो कि तुम्हें अपने मन का पता तो है! प्रायः लोगों को अपने मन का पता ही नहीं होता कि वह बना है या बिगड़ा है।

इस प्रकार धन, वैभव, प्रतिष्ठा की वृद्धि होने पर कदाचित्

कुछ औपचारिक सुख और शान्ति भी मिल जाय, किन्तु जो सत्कर्म का उत्साह मनुष्य में बना रहना चाहिए, वह नहीं रहता है।

अतएव भगवान् ने कहा है कि असली आनन्द और मंगल तो धर्म में है। अगर उस पैसे के साथ धर्म आ रहा है, धर्म के संस्कार आ रहे हैं तो आनन्द बना रहेगा। प्रतिष्ठा और इज्ज़त मिल रही है तो तदनुसार कर्त्तव्य के प्रति प्रेरणा भी बनी रहनी चाहिये—प्रेरणा बनी रहेगी और इस प्रकार सहर्ष कर्त्तव्य का पालन होता रहेगा, तो मैं समझता हूँ, आनन्द की उपलब्धि भी बराबर होती रहेगी।

प्रश्न हो सकता है, जिस धर्म की साधना करते हुए भी यदि जीवन आनन्द-विहीन बना रहता है, वह धर्म क्या है? मैं कहता हूँ, धर्म कोई पंथ नहीं है। किसी सम्प्रदाय का छापा, तिलक या और जो रूप-रंग होता है, वह भी धर्म नहीं है। वे साधन होते हैं अवश्य, किन्तु उन क्रियाकाण्डों के पीछे धर्म की सच्ची भावना आनी चाहिए। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह और तप-त्याग आना चाहिए।

वास्तव में धर्म का कोई बाह्य चिह्न नहीं है। अगर अहिंसा आदि हैं तो जैनधर्म मान लेता है कि धर्म है। और पंथ के क्रियाकाण्ड तो हैं मगर धर्म के पवित्र संस्कार नहीं हैं तो वह धर्म नहीं है। जैनधर्म कहता है कि यदि अहिंसा और सत्य के ऊँचे संस्कार हैं, क्रियाकाण्ड भी साधना के रूप में किया जा रहा है तो वहाँ सोने में सुगन्ध है। वहीं धर्म का असली रूप

धन में है, न परिवार में है और न दुनिया के किसी अन्य सुखोपभोग में है। संसार के वैभव जितने बढ़ते जाते हैं, क्या आनन्द भी उतना ही बढ़ता जाता है? ऐसा तो दिखाई नहीं देता। कभी-कभी, जब वैभव बढ़ता जाता है तो आनन्द कम होता जाता है और जीवन का रस सूखता जाता है। विचारने वाले लोग कभी-कभी महसूस करते हैं कि यह क्या हो गया।

एक भाई हमारे भक्तों में से है। वह पहले ग़रीब था, अब मालदार है। एक दिन उसने हमारे सामने अपना अन्तर खोल कर रक्खा। कहने लगा, जब मैं ग़रीब था तो देने की बुद्धि होती थी। कोई स्वधर्मी बन्धु आता तो उसे अच्छे से अच्छा भोजन खिलाने की और प्रेम से जिमाने की इच्छा होती थी। घर में किसी चीज़ की ज़रूरत पड़ती तो टालने की आदत नहीं थी। समझता था कि—पैसा आज है और कल नहीं है। अतः जो कुछ मिला है, उसका उपयोग क्यों न कर लूँ? किन्तु ज्यों-ज्यों पैसा बढ़ता गया, वह बुद्धि घटती गई। अब वैसे भाव नहीं आते हैं। दान लेने को कोई आता है तो मन मार कर देता हूँ। वह उत्साह निकल गया है।

यह बात उसने स्पष्ट रूप में कही तो मैंने कहा—तुम भाग्यशाली हो कि तुम्हें अपने मन का पता तो है! प्रायः लोगों को अपने मन का पता ही नहीं होता कि वह बना है या बिगड़ा है।

इस प्रकार धन, वैभव, प्रतिष्ठा की वृद्धि होने पर कदाचित्

कुछ औपचारिक सुख और शान्ति भी मिल जाय, किन्तु जो सत्कर्म का उत्साह मनुष्य में बना रहना चाहिए, वह नहीं रहता है।

अतएव भगवान् ने कहा है कि असली आनन्द और मंगल तो धर्म में है। अगर उस पैसे के साथ धर्म आ रहा है, धर्म के संस्कार आ रहे हैं तो आनन्द बना रहेगा। प्रतिष्ठा और इज्जत मिल रही है तो तदनुसार कर्त्तव्य के प्रति प्रेरणा भी बनी रहनी चाहिये—प्रेरणा बनी रहेगी और इस प्रकार सहर्ष कर्त्तव्य का पालन होता रहेगा, तो मैं समझता हूँ, आनन्द की उपलब्धि भी बराबर होती रहेगी।

प्रश्न हो सकता है, जिस धर्म की साधना करते हुए भी यदि जीवन आनन्द-विहीन बना रहता है, वह धर्म क्या है ? मैं कहता हूँ, धर्म कोई पंथ नहीं है। किसी सम्प्रदाय का छापा, तिलक या और जो रूप-रंग होता है, वह भी धर्म नहीं है। वे साधन होते हैं अवश्य, किन्तु उन क्रियाकाण्डों के पीछे धर्म की सच्ची भावना आनी चाहिए। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह और तप-त्याग आना चाहिए।

वास्तव में धर्म का कोई बाह्य चिह्न नहीं है। अगर अहिंसा आदि हैं तो जैनधर्म मान लेता है कि धर्म है। और पंथ के क्रियाकाण्ड तो हैं मगर धर्म के पवित्र संस्कार नहीं हैं तो वह धर्म नहीं है। जैनधर्म कहता है कि यदि अहिंसा और सत्य के ऊँचे संस्कार हैं, क्रियाकाण्ड भी साधना के रूप में किया जा रहा है तो वहाँ सोने में सुगन्ध है। वहीं धर्म का असली रूप

पनपता है।

जिस मनुष्य का मन धर्म में रहता है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, तप, त्याग और वैराग्य में रमण करता रहता है, उसे क्या कमी है? उसे क्या दुःख है? वह निराश और हताश क्यों हो?

संसार के वैभव मिल रहे हैं या नहीं, संसार की निगाह में उठ रहा है या नहीं, तू यह क्यों देखता है? साधक! तू तो यही देख कि तू अपने जीवन में उठ रहा है या नहीं? यदि तू उठ रहा है तो देवता भी तेरे चरणों में सिर झुकाने को आएँगे और तेरे चरणों की धूल अपने मस्तक पर लगा कर अपने को पवित्र समझेंगे। समझा, तेरी ऊँचाई इतनी बड़ी ऊँचाई है!

दूसरे लोगों ने मानव जीवन को इस रूप में समझा है या नहीं, किन्तु जैनों ने भी कहाँ समझा है? देखते हैं—धर्म का मर्म एक तरफ़ उपेक्षित पड़ा है और मनुष्य इधर-उधर की दूसरी कसौटियाँ कल्पित करके उन पर जीवन की ऊँचाइयों की परख करता फिरता है। और जब ऐसा करता है तो जीवन की असली चीज़ नहीं मिल पाती है, जीवन का दुःख-द्वन्द्व समाप्त नहीं होता है।

आनन्द श्रावक के पास धन बहुत था, फिर भगवान् महावीर से उसे कौन सा धन मिला? आचार्य हरिभद्र के शब्दों में—

धर्मे धनबुद्धिः।

अर्थात्, धर्म ही सच्चा धन है। आनन्द को यह नया

दृष्टिकोण भगवान् से मिला। संसार का भौतिक धन तो एक दिन मिलता है और मिलकर बिछुड़ भी जाता है, किन्तु जब तक धर्म में धन की बुद्धि पैदा नहीं होती, जीवन में मंगल नहीं होता। जो मनुष्य धर्म को धन समझ सकेगा, वह धर्म की प्रतिष्ठा में ही अपनी प्रतिष्ठा समझेगा। वह अपने अच्छे संस्कारों को ही जीवन की अच्छी से अच्छी कमाई समझेगा। वास्तव में वह कमाई इतनी ऊँची कमाई है कि यहाँ भी मालामाल और आगे भी मालामाल। उसके आगे सोने के सिंहासन भी फीके पड़ जाते हैं। जब मनुष्य में ऐसे विचार जाग जाते हैं तो वह ऊँचाई की ओर बढ़ जाता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का विश्लेषण करे। देखे कि मैं कहाँ भूल कर रहा हूँ? जीवन की अटपटी पगडंडी पर चलता हुआ अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति पूरा कर रहा हूँ या नहीं? अगर वह अपना कर्त्तव्य ठीक ढङ्ग से अदा कर रहा है तो वहाँ धर्म है। और यदि उसके किसी कार्य में धर्म-बुद्धि नहीं है, फिर भले ही वह धर्म के नाम पर कितना ही बड़ा क्रिया-काण्ड क्यों न करे वह एक प्रकार की चोरी ही है, धर्म नहीं।

यहां अचौर्यव्रत का प्रसंग चल रहा है, धार्मिक जीवन का चिन्तन चल रहा है; किन्तु जैनधर्म ने चोरी के सम्बन्ध में कहां तक कितनी भूमिका बाँधी है और मोर्चा बनाया है, जब तक हम इस तथ्य को सही रूप में नहीं समझ लेते हैं, तब तक धर्म करते हुए भी ग़लतियां करते रहेंगे। क्योंकि जब तक दृष्टिकोण को साफ़

नहीं किया जाता, जीवन में भूलें चलती ही रहती हैं।

एक आदमी को किसी वस्तु की अपेक्षा है, आवश्यकता है। वह उसका योग्य अधिकारी भी है, पात्र भी है। अगर उसे वह वस्तु मिल जाती है तो उसका उपयोग करके वह अपने जीवन को बना सकता है। दूसरा व्यक्ति है, जिसे उस वस्तु की अभी आवश्यकता नहीं है और वह दूसरे ढंग से भी अपना काम चला सकता है। वह उसका पात्र भी नहीं है। आपके पास वह चीज़ है। किन्तु आपने पहले व्यक्ति को वह नहीं दी और दूसरे को दे दी। यों तो आपने अपनी वस्तु अर्पण की है और लोक-प्रसिद्धि के अनुसार दान दाता बन गए हैं; किन्तु जहाँ ज़रूरत थी वहाँ नहीं दी और जहाँ ज़रूरत नहीं थी वहाँ दी है। इस पर जैनधर्म की दृष्टि से विचार करना है कि वास्तव में यह क्या हुआ? यह देन-लेन और यह व्यवस्था किस रूप में है?

मैं एक गंभीर बात आपसे कहना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि जैनधर्म की दृष्टि से यह भी एक प्रकार की चोरी है। आप ज़रा चिंतन की गहराई में उतर कर विचार कीजिए कि यदि एक के अधिकार की वस्तु दूसरे को दे दी जाय तो वह अधिकार की चोरी हुई या नहीं? अधिकार को छीनना हुआ या नहीं?

एक व्यक्ति किसी पद का अधिकारी है, वह उसके योग्य भी है अतः उसे वह पद मिलना ही चाहिए, किन्तु वह पद उसे न देकर यदि किसी दूसरे व्यक्ति को, जो उसका अधिकारी नहीं और उसके योग्य भी नहीं, दे दिया जाय तो शासक-वर्ग का यह कार्य क्या

समझा जायगा ? अधिकारी व्यक्ति सोचता है कि मेरे अधिकार को छीना गया है। और वास्तव में योग्य अधिकारी के अधिकार को छीन लेना चोरी ही का तो काम है।

साधुओं के लिए भी इसी प्रकार का एक वर्णन आया है। गृहस्थ के घर किसी बीमार के लिए पथ्य की कोई चीज़ बनी है। बीमार को उसकी बहुत ही आवश्यकता है। साधु उस गृहस्थ के घर जाता है और बीमार का ख़याल न करके, परिस्थिति का उचित विचार न करके, उस चीज़ को ले आता है तो हमारी पुरानी और आध्यात्मिक भाषा, बड़े ही गंभीर और कठोर शब्दों में चुनौती देती है, और कहती है कि वह साधु चोरी करके लाया है। हाँ, यह दूसरी बात है कि साधु को वास्तविक स्थिति का पता न लगे और अनजान में वह वस्तु ले ली जाय; लेकिन जान-बूझ कर, बालक, बूढ़े या रोगी की परवाह न रख कर यदि साधु ले आता है तो हमारे यहाँ वह चोरी मानी जाती है। एक के अधिकार की वस्तु उसे न लेने देकर ख़ुद ले ली है तो यह अधिकार की चोरी ही है।

मान लीजिए, आपके पास एक पुस्तक है, बहुत सुन्दर और उपयोगी ! आप उसका दान करना चाहते हैं। आपके सामने एक उसको पढ़ने का अधिकारी है, विद्यार्थी या और कोई जिज्ञासु है, और वह उसे पढ़ कर अपना जीवन बना सकता है और लाभ उठा सकता है; किन्तु आप उसे न देकर किसी ऐसे मनुष्य को दे देते हैं, जो पढ़ा-लिखा नहीं है और उस पुस्तक की गंभीरता को समझ

नहीं सकता है और जो उसे लेकर उसका दुरुपयोग करेगा, तो हम उस पुस्तक के दान को सही ज्ञानदान नहीं समझते। एक अबोध बालक पुस्तक की सुन्दरता से आकर्षित होकर उसे लेना चाहता है और आपको मालूम है कि एक खिलौने से अधिक उसके लिए उस पुस्तक का कोई उपयोग और मूल्य नहीं है; और दूसरा उसे पढ़ने के लिए, उससे लाभ उठाने के लिए लेना चाहता है, किन्तु आप उसे न देकर अबोध बालक को ही वह पुस्तक दे देते हैं तो क्या वास्तव में आप ज्ञानदान कर रहे हैं ?

केवल दे देना ही दान नहीं है। कम से कम जैनधर्म में दे देना मात्र ही प्रशस्त दान नहीं माना गया है। हज़ारों वर्षों से चला आने वाला हमारा जो साहित्य है, उससे मालूम होता है कि देने के पीछे विवेक और सद्बुद्धि भी आवश्यक है। देते समय इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि वह किसे मिल रहा है और वह उसका क्या उपयोग करेगा ?

इस दृष्टि से उस पुस्तक का सच्चा अधिकारी वह विद्यार्थी या जिज्ञासु था, जो पढ़ रहा है। वह उसे पढ़ता और उससे आदर्श ग्रहण करता। पर उसे न देकर आप एकमात्र खिलौना समझने वाले अबोध बालक को दे देते हैं। वह उसका सदुपयोग नहीं कर सकता। अतः यह आपका दान नहीं है किन्तु चोरी है।

आप कहेंगे, यह चोरी कैसे है ? हमने तो उलटी अपनी वस्तु दी है, फिर चोरी कैसी ? मगर कभी-कभी ऐसा ही उलटफेर हो जाया करता है। आप घर की चीज़ देते हैं और ममता उतारते

हैं, फिर भी यह चोरी ही हो जाती है। क्योंकि किसी के अधिकार का अपहरण करना क्या चोरी नहीं है ?

इस प्रकार के दान देने को 'चोरी' शब्द से कहना-सुनना आपको अटपटा लगता है। यदि 'चोरी' के बदले 'गुनाह' शब्द का प्रयोग किया जाय तो आप ठीक समझ सकते हैं और अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए भी तैयार हो सकते हैं। उसे चोरी कहते हैं तो आप गड़बड़ में पड़ जाते हैं। अच्छा, तो आप एक का अधिकार दूसरे को दे देना गुनाह ही समझ लीजिए। पर साथ ही यह विचार भी तो कीजिए कि इस गुनाह को आप किसी पाप में शामिल करते हैं या नहीं ? अगर शामिल करते हैं तो किस पाप में ? मैंने तो इसे चोरी में शामिल किया है। क्योंकि एक के अधिकार की वस्तु उससे छीनी गई है और दूसरे को दे दी गई है। अधिकार छीनना, आध्यात्मिक भाषा में चोरी है।

साधु परिव्राजक हैं, अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह आते-जाते रहते हैं। आपके ब्यावर जैसे क्षेत्र में आने पर तो उन्हें आवश्यकता के अनुसार आहार मिल सकता है, मगर सभी जगह ऐसे क्षेत्र नहीं हैं। देशाटन करते समय, कभी-कभी ऐसे क्षेत्रों में भी जाना पड़ता है, जहाँ उन्हें आवश्यकता से बहुत ही कम आहार मिलता है। जब इस तरह कम आहार मिलता है और वह सब साधुओं के लिए पर्याप्त नहीं होता तो विचार कीजिए कैसे उसका बंटवारा करें ? शास्त्रों में मर्यादा बतलाई है कि सबसे पहले जो अशक्त है, बीमार है, चल नहीं सकता है, उसे दीजिए। फिर

जो बच रहे तो उसमें से बालक तथा वृद्ध साधु को दीजिए। उस से भी बच रहे तो जो ज्ञानी हैं, लोगों को प्रबोध देने वाले हैं, उन्हें दे देना चाहिए। और फिर जो बच रहे तो वह उन साधुओं को मिलना चाहिए, जो सशक्त हैं और भूख को बर्दाश्त कर सकते हैं। इस रूप में आहार को वितरण करने का विधान है। इस व्यवस्था में उलट-फेर कर दिया जाय और 'मैं बड़ा हूँ, अतएव मेरा अधिकार पहले है' ऐसा विचार कह कर कोई साधु खाने बैठ जाय और तपस्वी, ग्लान, बालक या बूढ़े आदि का ध्यान न रक्खे तो उसका ऐसा करना चोरी है, क्योंकि उसने उनके अधिकार का अपहरण किया है।

प्रश्न हो सकता है—इसमें चोरी क्या है? साधु गृहस्थ का दिया हुआ लाये हैं, छीन कर तो नहीं लाये हैं; फिर इसे चोरी कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर यह है कि गृहस्थ के घर से दिया हुआ लाये हैं, अतः वह गृहस्थ की चोरी नहीं है; किन्तु साधुसंघ में से ही जिसके अधिकार की वस्तु का उपयोग किया है, उसकी चोरी है। बँटवारा करते समय वह चोरी की गई है।

शास्त्रकारों का साधु-जीवन के लिए यह सुन्दर विश्लेषण है। इसे मैं आपके जीवन में भी घटाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

हाँ, तो आपको दान की कला समझना है। दान के गंभीर भाव को ध्यान में रखना है। ऐसा करने पर ही आपका जीवन ऊंचाई पर पहुँच सकता है। आप दान दें और अवश्य दें, मगर

जब भी दें, विचारपूर्वक दें—योग्य अधिकारी का ध्यान रख कर दें।

आज भी दान दिया जाता है। जैन भी देते हैं और अजैन भी देते हैं। उस दान की बदौलत बहुत बड़ा काम हो रहा है। अतएव दान के प्रति जनता में जो सद्भावना है, हम उसका आदर करते हैं। परन्तु उस दान की हम उचित व्यवस्था चाहते हैं। उस पर आपको भी विचार करना है।

कल्पना कीजिए, आपके नगर में एक संस्था है और उसके उद्देश्य तथा कार्य से आप सन्तुष्ट हैं, मगर अर्थाभाव के कारण वह अशक्त है। उसके पास सुचारु रूप से कार्य करने को पर्याप्त द्रव्य नहीं है। दूसरी संस्था कहीं बाहर है किन्तु वह यथेष्ट कार्य नहीं कर रही है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के उसके रिकार्डस् धन इकट्ठा करने के ही रहे हैं, काम करने के नहीं।

यह दोनों संस्थाएँ आपके सामने हैं। आप जानते हैं कि अपने नगर की संस्था को दान देने से नामवरी नहीं होगी, या होगी भी तो कम होगी, और बाहर की संस्था को दान देने से अधिक नाम होगा, अधिक प्रतिष्ठा मिलेगी। इस प्रलोभन में पड़ कर आप ठोस और सन्तोषजनक कार्य करने वाली स्थानीय संस्था को तो दान नहीं देते और दिखावा करने वाली बाहर की संस्था को, प्रतिष्ठा पाने के लोभ से दान देते हैं। गाँव को संस्था भूखी मर रही है, धनाभाव के कारण उसके महत्वपूर्ण काम रुके हुए हैं, और दूसरी तरफ़ बाहर यशलोलुपता से प्रेरित होकर हज़ारों का

दान दे रहे हैं। मैं समझता हूँ कि यह दान-सम्बन्धी अव्यवस्था है, अज्ञानता है, अविवेक है, और है—स्पष्टतः योग्य संस्था के अधिकार का अपहरण।

जो दान सीधा जनता के जीवन में प्रवेश करता है, जिससे जनता का उपकार और मंगल होता है, उससे विमुख रहना, जन-जीवन के लिए उपयोगी कार्य करने वाली संस्था को दान न देना; और जिस संस्था के पास पर्याप्त धन है और जिसके अधिकारी उस धन पर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, वहाँ दान देना, एक प्रकार का अपहरण नहीं तो क्या है? जो अधिकारी है उसे न देना, और उसके बदले जो अधिकारी नहीं है उसे दे देना; इसे चोरी के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?

हमारे यहां पहले आचार्य को बन्दन किया जाता है और फिर दूसरे साधुओं को। इस क्रम को भंग करके यदि कोई आचार्य को छोड़ कर पहले दूसरे साधुओं को बन्दन करता है तो वह आचार्य की चोरी है।

यह जीवन की विभिन्न परिभाषाएं हैं। जब हम खुले दिमाग से जीवन के आदर्शों पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि अपने कर्त्तव्य का पालन न करना ही चोरी है। अतः जो वास्तव में अधिकार देने के योग्य था, पात्र था, उसे अधिकार न देकर दूसरे अपात्र को अधिकार देना, अपने कर्त्तव्य से च्युत होना है और ऐसा करना चोरी है।

एक छोटी-सी वात पर विचार कीजिए। आप देखते हैं कि

आज देश की स्थिति कितनी भयंकर है? एक-एक अन्न का दाना सोने के दाने से भी कहीं अधिक महँगा हो गया है। चारों ओर से भुखमरी की खबरें आरही हैं। पैनी आँखों से देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि देश एक भीषण दुष्काल के किनारे खड़ा है। प्राय: सर्वत्र अन्न के लिए हाहाकार मचा हुआ है। देश के जो बालक, बूढ़े और नौजवान हैं, वे अन्न के अभाव में तड़फ रहे हैं। वे शरीर से ही नहीं मर रहे हैं किन्तु अपनी आत्मा की दृष्टि से भी मर रहे हैं। वे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से मर रहे हैं, अपनी संस्कृति से मर रहे हैं। देश के आदमी भूख से तिलमिलाते हुए मरते हैं, उच्च वर्ग के धनी लोगों की लोलुपता या उपेक्षा के कारण मरते हैं, तो मैं समझता हूं, यह राष्ट्र के लिए बड़ा भारी कलंक है।

यदि कोई आदमी सिर्फ एक दिन भी लाचारी से भूखा रहता है, तो यह बात भी राष्ट्र के लिए कलंक है। फिर भला जहाँ हज़ारों और लाखों की यह हालत हो वहां तो कहना ही क्या है? उस राष्ट्र के लिए 'कलंक' से बढ़कर कोई दूसरा ही अपवित्र शब्द खोजना चाहिए।

इसी तरह एक आदमी को नंगा रहना पड़ता है, फुट-पाथ पर सोना पड़ता है, कड़ाके की सर्दी पड़ रही है और वह कपड़े के अभाव में ठिठुर रहा है, तो यह भी देश के लिए बड़ा भारी कलंक है।

हाँ, तो आज समाज के सामने यह महान् प्रश्न

खड़ा है और उत्तर मांगता है कि उसे क्या करना चाहिए ? एक तरफ़ तो यह दुर्दशा है और दूसरी तरफ़ हज़ारों मन अनाज धर्म के नाम पर चुगाया जा रहा है उन पक्षियों को, जो स्वतन्त्र विचरण करने वाले हैं, जो अपने जीवन को कहीं पर भी और किसी भी रूप में चला सकते हैं, जिनकी उड़ान बहुत दूर तक है, और जो जंगल की सामग्री से भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं।

इस प्रसंग पर हमें अपने अन्तर विवेक से आदेश प्राप्त करना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि पक्षियों को अन्न न चुगाएँ, मैं यह भी नहीं कहता कि ऐसा करने में असंयमी का पोषण होने के कारण एकान्त पाप है, मेरा यह भी कहना नहीं है कि पशु-पक्षी मनुष्य की करुणा और दया के पात्र नहीं हैं, बल्कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को अपना विवेक नहीं बिसारना है। इधर हज़ारों मन अनाज कबूतरों और चिड़ियों को डाला जा रहा है और समझा जा रहा है कि हम बड़ा भारी धर्म कर रहे हैं। और दूसरी तरफ़ देश के हज़ारों लाखों आदमी भूख के कारण मौत के मुँह में हैं। मैं पूछता हूं कि यह मानवीय अधिकारों का अपहरण है अथवा नहीं ? आप मानें या न मानें, यह मानव जाति के अधिकार का अपहरण है, अतः एक प्रकार की चोरी ही है।

जो इन्सान अनाज पर ही पलता है, उसे वह न देकर घास-पात खाने वालों को खिलाना, अधिकार का अपहरण करना

नहीं तो क्या है ?

बन्दरों को अनाप-सनाप अनाज डाला जाता है या नहीं ? सम्भव है, बन्दर ने अपने जीवन में, जन्म से लगा कर अब तक मीठा न चखा हो, फिर भी मंगलवार आएगा तो गुड़ का चूरमा उन्हें अवश्य खिलाया जाएगा। यह क्या बात है ?

हम एक जगह ठहरे हुए थे। वहाँ देखा एक व्यक्ति धर्म की साधना कर रहा था। देश में अकाल का प्रकोप था, तब वह बंदरों को गुड़ का चूरमा खिला रहा था। बन्दर उपद्रव मचा रहे थे और जाते नहीं थे। आसपास खड़े बालक बन्दरों को मारने लगे तो वह भक्तराज उन्हें समझाने लगा कि 'ये बन्दर नहीं हैं, हनुमान जी हैं, राम जी के सेवक हैं। मगर जब बन्दरों का उपद्रव शान्त नहीं हुआ और वे उसकी चीजें उठा ले गए तो उन्हें भगवान, देवता एवं हनुमान समझने वाला परेशान हो गया और लाठी उठा कर उन्हें मारने दौड़ा, बुरी-बुरी गालियाँ बकने लगा।

यह घटना देखकर मैंने सोचा—अभी तक तो यह व्यक्ति इन बन्दरों को हनुमान समझ रहा था और अब ख़ुद ही उन हनुमानों को मारने दौड़ रहा है। कितना बड़ा अंध विश्वास और अज्ञान है जीवन में! यह भक्ति नहीं, अन्ध भक्ति है, अज्ञानभक्ति है। यह लोकमूढ़ता है। इसमें विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है।

साधारण स्थिति में पशुओं, पक्षियों, बन्दरों और मछलियों

आदि के प्रति इस प्रकार की करुणा से प्रेरित दान प्रशंसनीय है। सिद्धान्ततः इसका विरोध नहीं किया जा सकता। एक युग था, जब देश में सहज प्रकृति से ही विशाल परिमाण में अन्न का उत्पादन होता था और जनता द्वारा यथेष्ट रूप से उपयोग कर लिए जाने पर भी प्रचुरमात्रा में बाक़ी बच रहता था, तो अपनी दान की भावना को चरितार्थ करने के लिए लोग कबूतरों को, चींटियों को और मछलियों को खिला दिया करते थे! और इस प्रकार हज़ारों-लाखों मन अनाज उन्हें डाल दिया जाता था। उस समय यह प्रणाली प्रशंसनीय ही कही जा सकती थी।

किन्तु आज के मनुष्य को देश की वर्तमान परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। जब हमारे देश के इन्सान एक मुट्ठी अन्न के अभाव में मर रहे हों, तब चीटियों के लिए हज़ारों मन आटा मैदान में बिखेर देना, विवेकशीलता नहीं है। आप आटा डाल कर कुछ दूर गये—और दूर बैठा हुआ कुत्ता वहाँ आया और उस मीठे आटे को चाटने लगा—तो, वे बेचारी चीटियाँ, जो उस आटे को खा रही थीं, कुत्ते के पेट में आटे के साथ ही चली गईं। तो, इस प्रकार दान करने से तो पुण्य के स्थान पर और पाप हुआ। अस्तु, यह दान का ढंग अज्ञानपूर्ण है।

मेरे इस कथन का आशय अन्तराय डालने का नहीं है। मैं तो, क्रम को समझाना चाहता हूँ। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आहार जब थोड़ा होता है तो साधुओं में भी क्रमपूर्वक वितरण करने का नियम है। घर में भी क्रम से ही देने की परम्परा है।

इस क्रम को भुला देने से अनेक अनर्थ होते हैं। जो प्रकृति पर आधारित रहकर अपने जीवन को आनन्दपूर्वक बिता सकते हैं और आपके अन्न के भरोसे जीवित नहीं हैं, जिनकी प्रकृति भी मूलतः अन्न खाने की नहीं है, उनको तो प्रचुर अन्न खिलाया जाता है और अन्न जिनका प्राण है, जिनके लिए 'अन्नं वै प्राणाः' कहा गया है और इस प्रकार जो अन्न के बिना जीवित नहीं रह सकते वे अन्नाभाव से भूखे मर रहे हैं। आपके अज्ञानपूर्ण दान के कारण अधिकारी नहीं, किन्तु अनधिकारी प्रचुर मात्रा में अन्न प्राप्त कर रहे हैं।

बिहार आपसे दूर नहीं है। आसाम और बंगाल भी दूर नहीं, वहाँ के निवासी भी आपके भाई हैं, वे जब अन्न के अभाव में अपने शिशुओं को, अपनी बहू बेटियों को बेच देते हैं तो कितने घोर पाप की सृष्टि होती है! इस स्थिति में हमारे यहाँ दान की जो परम्परा चल रही है, उससे मानवीय अधिकारों का अपहरण होता है, और जहाँ यह अपहरण है, वहाँ चोरी है।

मैं समझता हूँ, कोई भी विवेक-शील व्यक्ति मेरे इस कथन से असहमत नहीं हो सकता—अगर मैं कहूं कि देश जब तक पाँच-दस वर्ष के लिए अन्न की समुचित व्यवस्था न कर ले, तब तक मछलियों को और बन्दरों को अनाज देना, इन्सान को भूखा मारना है। इन्सान के अधिकारों को छीनना है।

एक बात और स्पष्ट कर दूं। कोई यह न समझ ले कि मनुष्य का केवल मनुष्य के साथ ही रिश्ता है और मनुष्येतर

प्राणियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं ऐसा नहीं समझता। मनुष्य प्राणीजगत् में सब से अधिक विकसित और सामर्थ्य-सम्पन्न प्राणी है, अतएव वह बड़े भाई के समान है और दूसरे प्राणी इसके छोटे भाई के सदृश हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उनके प्रति भी सहानुभूति, दया और प्रेम की धारा बहाए। अपनी मैत्री भावना को, जो साधारणतया अपने परिवार तक सीमित रहती है, क्रमशः विकसित करता हुआ प्रत्येक मानव के पास ले जाय और फिर शनैः शनैः अन्य चर और अचर प्राणियों के पास भी। यही मैत्री-भावना के विकास का स्वाभाविक क्रम है। जहां इस क्रम का व्यतिक्रम होता है—वहां अस्वाभाविकता है, बनावट है, अव्यवस्था है। मैं समझता हूं, वहाँ भगवदाज्ञा की चोरी भी है।

इस चोरी से बचना भी विवेकशीलों का कर्त्तव्य है।

ब्यावर,
२/११/५०।

अस्तेय का विराट रूप !

चोरी का मतलब आम तौर पर समझा जाता है—किसी की चीज़ उसकी अनुमति के बिना उठा लेना, छीन लेना, अपने कब्ज़े में कर लेना और डाका डाल कर या बलात् ले लेना। ताला तोड़ लेना, जेब काट लेना आदि-आदि बातें चोरी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इसी प्रकार जो दूसरों के अधिकार की वस्तुएं हैं, दूसरों के काम में आने वाली चीजें हैं, उन्हें धोखा देकर ले लेना, या फुसला कर ले लेना भी चोरी में ही शुमार किया जाता है। जहां तक चोरी शब्द के अर्थ को मोटे रूप में समझ लेने की बात है, इन सब बातों को चोरी समझ लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु चोरी के और भी अंग हैं और वे इतने सूक्ष्म हैं कि उनके विषय में हमें गहराई से सोचना

है और जब गहराई से सोचेंगे, तभी हम भली प्रकार से उन्हें समझ सकेंगे।

विचार कीजिए, किसी आदमी के पास सम्पत्ति है। वह सम्पत्ति आखिर समाज में से ही तो ली गई है। वह आकाश से नहीं बरसी है और न पूर्वजन्म की गठरी ही बाँध कर साथ में लाई गई है। मनुष्य तो केवल यह शरीर ही लेकर आया है। बाक़ी सब चीज़ें तो उसने यहीं प्राप्त की हैं। और प्राप्त तो कर लीं हैं, किन्तु उनका यदि उपयोग नहीं करता है, ठीक-ठीक इस्तैमाल नहीं कर रहा है, उन्हें दबाए बैठा है, न अपने लिए, न दूसरों के लिए ही काम में लाता है! भूखा रहा, प्यासा रहा, आर्त्तध्यान में रहा और रौद्रध्यान में रहा, किन्तु उस सम्पत्ति का उपयोग नहीं किया। सर्दी आई, गर्मी आई, बरसात आई और वह दूसरों के मकान में या इधर-उधर बिलकुल रद्दी ढंग से रहा, किन्तु उसने अपने मकान को ठीक नहीं करवाया। प्रश्न होता है—यह भी चोरी है या नहीं?

वह, जो सारी सामग्री होने पर भी सर्दी, गर्मी या बरसात से बचने के लिए मकान के रूप में अपनी सम्पत्ति का उपयोग नहीं करता, और जब उपयोग नहीं करता तो उसके अन्तःकरण में आर्त्त-रौद्र ध्यान आते हैं, मन अशान्त रहता है। यदि पूर्ति करले तो मन शान्त हो जाय, किन्तु वह पूर्ति नहीं करता है और अशान्ति में कर्म बांधता जाता है! फिर भी सारी लक्ष्मी को दबाए बैठा है!

तो कहने को तो यह चोरी नहीं है और समाज भी इसे चोरी समझने को तैयार नहीं है, किन्तु दर्शन की दृष्टि से यह भी चोरी है। समाज से धन इकट्ठा किया और डाले रक्खा, सारी ज़िन्दगी समाप्त हो गई—न अपने लिए और न दूसरों के लिए ही उसका उपयोग किया तो, यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

जो व्यक्ति सम्पत्ति पा करके भी उसे प्राणों से लगाए रहता है और आर्त्तरौद्र ध्यान में शरीर गलाता रहता है; अपनी आध्यात्मिक चेतना को बराबर नष्ट करता रहता है, बूढ़े माँ बाप की सेवा के भाव भी नहीं रखता है, पत्नी तथा सन्तति की उन्नति की बात भी नहीं सोचता है और अपनी ज़िन्दगी में ठीक ढंग की तैयारी भी नहीं करता है, इन सब प्रयोजनों के लिए धन का उपयोग न करके उसे दबाए बैठा रहता है, तो मैं नहीं समझ पाता कि वह व्यक्ति चोरी नहीं करता तो और क्या करता है।

यह तर्क का प्रश्न है और विचार की बात है। मैं पहले अपने ऊपर ही घटाता हूँ, मान लीजिए, एक व्यक्ति साधु बन गया है, किन्तु साधु का जो कर्त्तव्य है और उत्तरदायित्व है, उसे पूर्ण नहीं कर रहा है तो वह चोर है या साहूकार है ?

यहाँ तो आप चटपट कह देंगे कि वह चोर है! यहां आपकी तर्कबुद्धि काम कर जाती है और मैं समझता हूं कि ठीक काम कर रही है। क्योंकि उसने संसार छोड़ा है, साधु बनने

की प्रतिज्ञा की है, जीवन क्षेत्र में खड़ा हो गया है और आपसे यश-प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, आहार पानी लेता है और जीवन की अनिवार्य सामग्री लेता है; फिर भी अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है और साधुपद की मर्यादा का अनुसरण नहीं करता है, तो वह भगवान का चोर है !

इसी प्रकार जिसने गुरू से बाना लिया है और गुरू के आदेशों का पालन करने की प्रतिज्ञा ली है, वह यदि गुरू के बताए हुए मार्ग पर नहीं चल रहा है, तो वह गुरू का चोर है।

जो अपने आपको, समाज में साधु के रूप में प्रकट करता है, साधु की हैसियत से समाज की सहायता और सहयोग प्राप्त करता है, फिर भी अपने साधुजीवन के कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है तो वह निश्चय ही समाज का चोर है।

और सब से बढ़कर वह अपनी आत्मा का चोर है। वह आत्मवंचना करता है, अपने आपको धोखा दे रहा है।

यह बात आप जल्दी और बिना किसी संकोच के समझ गये हैं, मान गये हैं। मगर यही बात आपको अपने सम्बन्ध में भी समझनी और माननी चाहिए।

आप अपने लिए 'कृपण' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। अर्थात् कह सकते हैं कि अपने धन का अपने या दूसरे के लिए उपयोग न करने वाला और इस रूप में अपने परिवार और समाज के प्रति कर्तव्य से विमुख रहने वाला व्यक्ति 'चोर' नहीं, कृपण है। तो इस तरह तो मैं भी साधु के लिए कोई शब्द गढ़ सकता

हूँ और कह सकता हूँ कि अपने कर्तव्य का पालन न करने वाला वह साधु कृपण है या दुर्बल है, ढीला है।

न्याय की तुला किसी का लिहाज़ नहीं करती। अतएव अपने कर्तव्य का पालन न करने वाले साधु को आप जिस शब्द से सम्बोधित करने को तैयार हैं, उसी शब्द से अपने कर्तव्य से विमुख रहने वाले गृहस्थ को भी सम्बोधित करने में क्यों संकोच करते हैं? मतलब यह है कि जैसे अपने उत्तरदायित्व को न निभाने वाला साधु चोर है, उसी प्रकार वैसा श्रावक भी चोर है।

जो व्यक्ति श्रावक के रूप में हमारे सामने आ गया है, किन्तु कर्तव्य का पालन करने के लिये तैयार नहीं है और जिस समय जो कार्य करना चाहिए, उसे नहीं करता है, सशक्त होते हुए भी कर्तव्य से जी चुराता है, फिर भी वह यदि श्रावक होने का दावा करता है, तो बताइए उसे क्या कहना चाहिए? वह साहूकार कहलाने योग्य है या चोर कहलाने योग्य? जो जिस पद को लेकर खड़ा है, उस पद के उत्तरदायित्व और कर्तव्य को यदि नहीं निभाता तो वह चोर है या साहूकार है?

एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठ गया। छत्र-चँवर धारण कर लिये और महलों में रहने लगा। जहाँ भी जाता है हज़ारों आदमी 'घणी खमा' करते हैं। प्रजा से आदर-सत्कार और यश-प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है और आनन्द ले रहा है। इस स्थिति में उसका भी प्रजा के प्रति प्रेम होना चाहिए। उसमें प्रजा के कल्याण की भावना होनी चाहिए। उसे प्रयास करना चाहिए कि

मेरी प्रजा दीन और दरिद्र न रहे, बल्कि समर्थ और समृद्ध बने। दुराचारी न बने, बल्कि सदाचार के सौरभ से सम्पन्न हो। उसे प्रजा के कल्याण के लिए अपने सुख का बलिदान करना चाहिए। स्वयं दुःख झेल कर प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह उसका कर्तव्य है, उत्तरदायित्व है। अगर राजा इसे भली भाँति निभाता है तो वह साहूकार है; अगर नहीं निभाता तो वह चोर के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

यहां पर राजा के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, वही राज्याधिकारी के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

इसी तरह आपने एक मज़दूर रक्खा। आप उससे काम लेते हैं, किन्तु वह काम करते-करते निगाह चुराकर बातें करने लगता है अथवा यह सोच कर कि जिस वेग से मैं काम कर रहा हूँ, इस तरह तो यह काम शीघ्र ही समाप्त हो जायगा, बस वह हाथ पैर हिलाता हुआ तो दिखाई देता है, किन्तु काम धीरे-धीरे करता है। तो जो मज़दूर जानबूझ कर, बेईमानी से, काम में ढिलाई कर रहा है, उसे चोर कहते हैं या साहूकार? वह काम का चोर है, अर्थात् अपने कर्त्तव्य का चोर है।

घर में कोई बहिन सशक्त और स्वस्थ है; फिर भी समय पर रोटी पानी का काम नहीं करती, बच्चों की सफ़ाई का काम नहीं करती, ठीक समय पर झाड़ू-बुहारी का काम नहीं करती, बीमार की सेवा-शुश्रूषा का काम नहीं करती, बूढ़ों को समय

पर भोजन बना कर नहीं खिलाती और पड़ी-पड़ी आलस्य में समय निकाल देती है, तो जैसे नौकर अपने कर्त्तव्य का चोर है, उसी प्रकार वह बहन भी अपने कर्त्तव्य का पालन न करने के कारण चोर है।

इसी प्रकार कोई विद्यार्थी घर से बाहर किसी दूसरे नगर में पढ़ने गया है। घर वाले समझते हैं कि वह पढ़ रहा है। वह घर से ५०-६०-१०० रुपये प्रति-मास मँगा लेता है। मगर वह पढ़ता नहीं है और मटरगश्ती में रहता है, सिनेमा देख आता है, दोस्तों के साथ होटलों में सैर कर आता है! परीक्षा पास में आगई है, पुस्तकों का ढेर है, फिर भी पढ़ने में जी नहीं लगाता! ऐसे विद्यार्थी को भी चोर कहा जाता है, साहूकार नहीं कहा जा सकता।

विद्यार्थी को पढ़ने का काम मिला है, अपने आपको ऊंचा बनाना उसका कर्त्तव्य है। वह स्वयं प्रकाश प्राप्त करले तो अंधकार में भटकने वाले दूसरों को भी रोशनी दे सके। उसके सामने यह आदर्श है कि मैं अच्छा नागरिक बनूँगा और दूसरों को भी अच्छा नागरिक बनाऊंगा। मैं जो प्रकाश प्राप्त कर रहा हूँ, वही प्रकाश अपने समाज और देश को भी दूँगा। मैं अपने व्यक्तित्व को समृद्ध बनाकर मानव जाति के हित में उसे लगा दूंगा। इतना महान् आदर्श है विद्यार्थियों के सामने। मगर वह काम नहीं करता है। अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता है तो, उसके लिए भी आप वही कहेंगे कि वह

का चोर है।

एक आदमी स्वस्थ और शरीर से हृष्ट-पुष्ट है। उसमें इतनी ताक़त है कि समय आने पर सेवा में जुट जाय और रात-दिन निकाल दे तो भी उसका कुछ भी न बिगड़े, शरीर पर बुरा प्रभाव न पड़े; फिर भी यदि वह सेवा नहीं करता और सेवा का अवसर आने पर बहाने-बाज़ी करके टालमटूल कर जाता है तो वह शक्ति का चोर माना जाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति ने जो उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य अपने ऊपर ओढ़ा है, जिस जिम्मेवारी को अंगीकार किया है, उससे विमुख होना, उसे शक्ति भर पूरा न करना और फिर भी उसके परित्याग की प्रामाणिक घोषणा न करना, कर्त्तव्य की चोरी है। राजा हो या मज़दूर, साधु हो या श्रावक, शिक्षक हो या शिष्य, स्वामी हो या सेवक, स्त्री हो या पुरुष, कोई भी क्यों न हो, जब तक वह अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, तब तक वह साहूकार है और जब कर्त्तव्य के प्रति लापरवाही दिखलाता है तो चोर की श्रेणी में आजाता है।

आचार्य जिनदास महत्तर हमारे यहां, जैनों में एक बड़े दार्शनिक हो गए हैं। उनका साहित्य पढ़ने योग्य है। जब उनके ग्रन्थों का अध्ययन होता है और उन पर विचार एवं चिन्तन किया जाता है तो उन ग्रन्थों में क़दम-क़दम पर एक से एक अनमोल बोल लिपिबद्ध हुये दृष्टिगोचर होते हैं। वे महान आचार्य हमारे जीवन के लिए अमृत की वर्षा कर गए हैं। उन्होंने एक सुन्दर उल्लेख

किया है, जो इस प्रसंग में उपयोगी है। वे कहते हैं—कोई साधु गोचरी का काम कर रहा है, अध्ययन या उपदेश देने का काम कर रहा है, या कुछ दूसरा काम कर रहा है और वह सशक्त तथा समर्थ भी है और इस कारण स्वयं ही काम कर सकता है, बतलाया गया है कि उसको स्वयं ही काम करना चाहिये। जब दूसरा कोई आवश्यक काम न हो और समय खाली हो तो अपने हाथों से ही अपना कर्तव्य पूरा करना योग्य है। जो काम तुमको मिला है उसको तुम समय पर पूरा कर दो। आचार्य कहते हैं—

संतं वीरियं न निगूहितव्वं।

\+ \+ \+

संते वीरिये न अण्णो आणाइयव्वो

—आवश्यकचूर्णि

जिस काम को करने की शक्ति, सामर्थ्य या बल तुममें मौजूद है, उसे छिपाओ मत। उस शक्ति को कौने में मत डालो। अगर शक्ति को छिपा लोगे तो, कहा गया है, यह भी एक प्रकार की चोरी है।

इसी प्रकार जो काम तुम स्वयं कर सकते हो, उसको करने के लिए दूसरों को आदेश मत दो। ऐसा करना अपने वीर्य का तिरस्कार करना है, अपनी शक्ति का अपमान करना है और अपने कर्तव्य की चोरी करना है।

जैनधर्म जैसा ऊंचा और विराट धर्म जीवन के समग्र सत्य

को सामने लेकर आया है। उसने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की मंगलसाधना के लिए जो बहुमूल्य सूत्र प्रदान किये हैं, उनमें दर्शन की समस्त धाराओं का समावेश हो जाता है। गांधीवाद और सर्वोदयवाद की आधुनिकतम विचारधाराएँ भी उसमें सम्मिलित हैं। हजारों वर्षों के पहले की हमारे आचार्यों की वाणी को, जब हम आज पढ़ते और सुनते हैं, तो कभी-कभी ऐसा जान पड़ने लगता है, मानो इस युग की गुत्थियों को आज से हजारों वर्ष पहले सुलझा कर रख दिया गया है! उनकी वाणी में जीवन के महान और उच्च सभी आदर्श प्रतिबिम्बित होते हैं।

आचार्य जिनदास ने कितने सुन्दर और सादे ढंग से कहा है— तू अपनी शक्ति को मत छिपा और जब तेरे शरीर में काम करने की शक्ति है तो दूसरे पर हुक्म मत चला।

जैसे किसी साधु ने उपवास कर लिया है और दूसरे साधुओं ने नहीं किया है। उनके लिए आहार लाना आवश्यक है, तो उपवासी साधु शक्ति रहते ऐसा न कहे—'आज आहार तुम ले आओ, मैं उपवास में हूँ।'

इस प्रकार जब तक तुम्हारी शक्ति काम दे रही है, दूसरे से काम करने को मत कहो। हां, शक्ति न हो तो कह सकते हो। शक्ति और जवाबदारी रहते काम न करना चोरी है। हाँ, अशक्ति की अवस्था में आज्ञा देना साहूकार का काम है।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने इस विषय का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हमारे सामने रक्खा है कि उसके अन्तर्गत आने से

कोई भी भाव छूट नहीं पाया है। तो अब इस प्रकाश में आप संपत्ति के सम्बन्ध में विचार कीजिए। किसी के पास धन-सम्पत्ति है। वह देख रहा है कि झोंपड़ियां जल रही हैं, झोंपड़ियों के कलेजे जल रहे हैं, बालक, बूढ़े और महिलाएं भूख की कराल ज्वाला में भस्म हो रही हैं, फिर भी उसका पाषाण-हृदय द्रवित नहीं होता। वह अपनी उस शक्ति को कलेजे से लगाए बैठा है। यही नहीं, बल्कि इस भीषण परिस्थिति से लाभ उठा कर अपने धन की वृद्धि के प्रयास में लगा है, तो समाज के सामने आज ज्वलंत प्रश्न उपस्थित है कि उस धनवान को क्या कहा जाय ? उसे चोर न कहें तो क्या कहें ?

धन भी एक शक्ति है, ताक़त है और अपने आप में एक बल है। वह उस शक्ति का उपयोग न अपने लिए करता है, न दूसरों के लिए करता है। क्या वह अपनी शक्ति को नहीं छिपा रहा है ? ऐसी स्थिति में उसे चोर क्यों नहीं कहा जा सकता ?

आपको मुँह बोलने के लिए मिला है और आँखें देखने के लिए मिली हैं। एक अंधा चला जा रहा है और उसके आगे एक गड़हा है उस बेचारे की आंखों में प्रकाश नहीं है। अतः वह गड़हे को देख नहीं सकता। परन्तु आप खड़े-खड़े देख रहे हैं। मुंह से बोलने की आवश्यकता है और बोलने को मुंह आपके पास मौजूद है, किन्तु आप उस वक्त अपना मुंह नहीं खोलते। अंधे को गड़हे या कुएं की सूचना नहीं देते—तो अंधा तो गड़हे या कुए में गिरेगा ही; किन्तु आप उससे भी अधिक हिंसा और

निर्दयता के घोर गड़हे में गिरेंगे। कहा है—

जो तू देखे अंध के, आगे है इक कूप।
तो तेरा चुप बैठना, है निश्चय अघरूप॥

तू देख रहा है कि अंधे के आगे कूप है और वह उसकी ओर चला जा रहा है, तब भी तू चुप बैठा रहता है, बोलता नहीं है और अंधे को उस खतरे से सावधान भी नहीं करता है, तो तेरा मौन रहना पाप है और देखना भी पाप है। यह आंखों की चोरी है कि तू देख रहा है और वह बर्बाद हो रहा है! यदि उस हालत में भी तू पुरुषार्थ को काम में नहीं लाता है तो अपने ज्ञान और दर्शन की चोरी कर रहा है

अभिप्राय यह है कि हमें जो तत्व मिले हैं और जो भी महत्त्वपूर्ण वस्तु मिली है, उसका ठीक-ठीक उपयोग न करना भी शास्त्रों के चिन्तन में चोरी है।

आपको मन मिला है; किन्तु उसके द्वारा यदि आप सुन्दर विचार नहीं करते हैं और दिन रात आपका मन कूड़े-कर्कट का ढेर बनता जाता है, समाज में से सुन्दर विचार को न लेकर आप गंदे विचारों का ही संग्रह करते जाते हैं, तो यह मानसिक पाप और चोरी है।

इसी प्रकार हम बुरे दृश्यों से अपनी आंखों को नहीं हटाते, आंखों का अच्छाई की तरफ़ उपयोग नहीं करते, दुर्वासनाओं को भड़काने वाली पुस्तकों को पढ़ते हैं और सत्शास्त्रों की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखते तो हम आंखों का दुरुपयोग

कर रहे हैं। यह भी एक प्रकार की चोरी है।

यह कान बुरे शब्द और गालियां सुन कर मजा लूटने के लिए नहीं हैं, यह अच्छी और सुन्दर वाणी सुनने के लिए हैं। संसार में अनेक महात्मा पुरुष हो गए हैं और आज भी मौजूद हैं और उनकी दिव्य और कल्याणकारिणी वाणी सभी को सुनने अथवा पढ़ने के लिये मिल जाती है तो, उस पवित्र वाणी की सहायता से हम अपने जीवन को पवित्र और सात्विक बना सकते हैं। मगर जो ऐसा न करके केवल अपावन रूप को देखने और शब्द को सुनने में ही अपनी आंखों और कानों का उपयोग करता है, वह अपनी देखने और सुनने की शक्ति का चोर है।

इसी प्रकार मनुष्य के हाथ, पैर और दूसरे अङ्गोपांग, दूसरों को कुछ देने के लिए हैं, न कि दूसरों से कुछ छीनने के लिए। अगर कोई छीनने में उनका इस्तैमाल करता है तो वह चोर हो जाता है।

इन तमाम बातों को एक साथ समेट कर अगर कहा जाय तो यही कहा जा सकता है कि मनुष्य को शरीर, इन्द्रियाँ, धन, वैभव और सोचने-विचारने के लिए मन आदि-आदि जो भी सम्पत्ति मिली है, उसको उसका उपयोग जीवन को ऊँचा, मंगलमय और पवित्र बनाने के लिए ही करना चाहिए। इसके विरुद्ध जो अपनी शक्ति को, सम्पत्ति को या शरीर को अथवा किसी भी अन्य वस्तु को गलत कामों में लगाता है और अच्छे कामों में उनका उपयोग नहीं करता, वह अपने मनुष्यत्व को

चोरी करता है। वह अपनी उक्त वस्तुओं का ठीक-ठीक उपयोग न करने के कारण, समाज में ऐसा जीवन लेकर चल रहा है, जिसे हम गंदा या निकम्मा ज़ीवन कहते हैं। जब समाज में इस प्रकार का जीवन यापन करने वाले लोगों की प्रचुरता हो जाती है, तो वह समाज बर्बाद हो जाता है, और एक दिन रसातल को चला जाता है।

तो हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि दूसरे की धन-सम्पत्ति छीनना या चुरा लेना तो चोरी है ही, किन्तु ठीक समय पर अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग न करना भी चोरी ही है। अतएव जो अपने धन-वैभव का, अपने शरीर और मन का और अपनी इन्द्रियों आदि का उचित उपयोग नहीं करते, वे सब भगवान् महावीर के अध्यात्म की भाषा में चोर हैं। गहराई में उतरकर इस चोरी को हमें समझना ही चाहिए।

कल्पना कीजिये, एक आदमी घर से निकलता है और जब निकलता है तो दो-चार बच्चे उसके साथ हो लेते हैं। वह हलवाई की दूकान पर पहुँचता है और ताज़ा मिठाई देख कर ललचा जाता है। मिठाई ख़रीदने की बात सोचता है। मगर उसे ख्याल आता है कि इस समय ख़रीदूँगा तो इन बच्चों को भी इस मिठाई में से हिस्सा देना होगा। ये शैतान जो साथ में हो लिए हैं। इन देवताओं की पूजा न करूँगा तो ठीक न रहेगा और फिर वह बालकों से कहता है—'तुम चले जाओ, अभी मिठाई नहीं लेंगे। मिठाई अच्छी नहीं है!' और जब बालक

चले जाते हैं तो वह आसन जमाकर बैठ जाता है और मिठाई ख़रीद कर खा लेता है।

तो, मैं पूछता हूँ आपसे कि वह मनुष्य जो मिठाई खा रहा है—क्या वह साहूकारी से खा रहा है या चोरी से।

वह कहेगा, जेब से पैसे देकर मिठाई ली है, फिर चोरी कैसे हुई ? आज हमारी जो भाषा है और सोचने-विचारने का ढंग है, उसके अनुसार वह चोरी नहीं समझी जाती !

अगर उस आदमी ने मिठाई हलवाई की नज़र बचाकर लेली होती तो वह चोरी कहलाती; मगर क्योंकि उसने हलवाई को तो उस मिठाई के पैसे दिये हैं, साधारण रूप में इसीलिए वह चोरी नहीं है, लेकिन क्योंकि वह उन अबोध बच्चों की नज़र बचाकर उस मिठाई को खा रहा है, इसलिये वह चोर नहीं है तो क्या साहूकार है ? क्या उसने उन बच्चों के अधिकार को चोरी नहीं की है। और क्योंकि उसकी उस चोरी का कुप्रभाव उन बच्चों पर पड़ा है, इसलिये वह तो और भी बड़ी चोरी हुई।

अतः इस प्रकार की चोरी का दुष्परिणाम वहीं तक सीमित नहीं रहता। वह कभी-कभी व्यापक अनर्थ उत्पन्न करता है। क्योंकि, वह आदमी उन बच्चों को टरकाकर मिठाई खा रहा है और उनमें से कोई एक बालक अचानक फिर वहाँ पहुँच जाय और उसे मिठाई खाते देख ले तो क्या उस बालक के दिल में, उस आदमी के प्रति, ज़िंदगी भर के लिए अविश्वास

की गहरी जड़ नहीं जम जायेगी ? उसके प्रति बालक के सहज विश्वास को चोट नहीं पहुँचेगी ? बालक के हृदय में उसके प्रति जो प्रेम और आदर की भावना है, वह अक्षुण्ण बनी रहेगी ? क्या बालक सब के प्रति अविश्वासशील नहीं बन जायगा ? और फिर जब वह बालक बड़ा होगा तो क्या अपने से छोटों को इसी प्रकार का चकमा नहीं देगा ? वह झूँठ बोलने और छल-कपट करने की शिक्षा नहीं ग्रहण करेगा ? उसे स्वार्थ-परायणता का पाठ सीखने को नहीं मिलेगा ?

यों चुपके-चुपके मिठाई खा लेना एक साधारण-सी बात मालूम होती है, मगर उसके कार्य-कारण भाव की परम्परा पर विचार किया जाय तो वह बहुत गंभीर बुराई प्रतीत होगी। यह छोटो-छोटी जान पड़ने वाली चोरियाँ आज समाज को जला रही हैं। एक डाकू थोड़ी देर तक आतंक पैदा करके कहीं विलीन हो जाता है, मगर यह चोरियाँ उससे भी अधिक भयंकर कार्य कर रही हैं और समाज को गहरे गर्त में गिरा रही हैं।

भोजन के विषय में, शास्त्र में, साधुओं के लिए, एक बड़ी सुन्दर बात बतलाई है। सहभोगी साधु साथ-साथ भोजन करने के लिए बैठे हैं। लाया हुआ भोजन बाँटा जा रहा है। बाँटने वाले के लिए यह आदेश है कि वह पहले अपने लिए भोजन न रख ले, किन्तु दूसरों को देने के बाद जो बचे, वह अपने लिए रक्खे ! इसी प्रकार यह नहीं कि दूसरों को साधारण चीजें बाँट

दे और अपने लिए अच्छी चीज़ रख ले ! अगर बाँटने वाला इस नियम का पालन नहीं करता और अपने लिए अच्छी-अच्छी चीजें बचा कर रख लेता है, तो वह चोर है !

और जो साधु एक ही पात्र में भोजन करने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि वे हमेशा की गति से ही भोजन करें। अच्छी चीज़ देख कर जल्दी-जल्दी हाथ मारना भी चोरी है।

उपर्युक्त ये बातें कितनी साधारण हैं, मगर उनका प्रभाव जीवन में कितनी दूर तक पहुँचता है—इसीलिए जीवन को पवित्र और उच्च बनाने के लिए इन साधारण-सी बातों को ध्यान में रखना परम आवश्यक है—क्योंकि इनका साम्राज्य बहुत विशाल है।

हमारे जीवन में, वास्तव में जौहरी की तराज़ू चाहिए। माली की तराज़ू वहाँ काम नहीं देती। माली की तराज़ू पर थोड़ी शाक-भाजी डाली या न डाली, इस बात का कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, उससे ज्यादा लाभ या हानि नहीं होती। किन्तु उसी तराज़ू से अगर जौहरी तोलने लगे तो कितनी हानि होगी ? वहाँ तो रत्ती-रत्ती और माशे-माशे का हिसाब है। तो, हमें अपने जीवन को जौहरी की तराज़ू से तोलना है, न कि माली की तराज़ू से !

मान लीजिए, कोई साधु ज्ञानी और विचारक है, उसका मस्तिष्क उर्वर है, और उसमें न जाने कितने आचार्यों के चिन्तन और विचार भरे पड़े हैं। उसने भगवान् महावीर की

वाणी को ग्रहण किया है। लेकिन इस योग्य होने पर भी यदि वह दूसरों को वह सन्देश नहीं देता है, तो यह भी चोरी का एक रूप है या नहीं—सोचना यह है।

हमारे पास ज्ञान का जो संग्रह है हमने शास्त्रों से और आचार्यों की वाणी से उसे ले लिया है। वह हमारी अपनी चीज़ नहीं है। उस ज्ञान के लिए हम उन आचार्यों के ऋणी हैं। उस ऋण को चुकाने का एक ही तरीक़ा है कि जब कोई सुपात्र जिज्ञासु हमारे सामने आये तो हम उस ज्ञान को देने में अपना अहोभाग्य समझें। अगर कोई ऐसा नहीं करता, ज्ञान का आदान तो करता है, मगर प्रदान नहीं करता तो वह ज्ञान का चोर है।

मुझे एक बड़े मुनि के सम्बन्ध में मालूम है। एक बार प्रवचन करते समय उन्होंने प्रसंगवश उर्दू-भाषा की एक शेर पढ़ी। उन्हीं दिनों एक दूसरे मुनि वक्ता बनने की तैयारी कर रहे थे। और उसी सभा में वह भी बैठे थे। आप जानते हैं कि सभी लोग अपनी अपनी रुचि के अनुरूप सामग्री जुटाने के लिए हाथ-पैर फैलाते हैं। तो उन्होंने उन बड़े मुनि से कहा—'मुनिजी, वह शेर मुझे पसन्द आई और उपयोगी जान पड़ी, अगर उसे मुझे लिखा सकें तो बड़ी कृपा हो।'

बड़े मुनि बोले—'कौन-सा शेर! मेरे तो ध्यान में नहीं है। यहाँ तो सैकड़ों शेर आते हैं और चले जाते हैं। और भैया! बात ऐसी है कि मैं जब व्याख्यान देना आरम्भ करता हूँ, तभी शेर याद आते हैं, नहीं तो नहीं आते हैं।'

यह सुनकर मुझे हँसी आ गई। मैंने उस छोटे मुनि से कहा—'भैया, ये तो भीख माँगने वाले हैं, भीख देने वाले नहीं हैं !'

व्याख्यान में अपनी कल्पनाएँ धारा-प्रवाह के रूप में चलती हैं। संभव है, बाद में उनका स्मरण रहे अथवा न भी रहे, मगर जो चीज़ बनी-बनाई है, जो कहीं से ली गई है, लाई गई है; और लाई गई है तो उसकी स्मृति भी होनी चाहिए। और स्मृति रहती भी है; मगर न जाने, देते वक्त मन क्यों काँपता है।

एक मारवाड़ी सन्त ने कहा है :—

भीख मांह से भीख दे तो पुण्य मोटा होय रे।

जो भीख तूने प्राप्त की है, उसमें से देने की शक्ति होना बड़ी बात है और देना बड़ा सत्कर्म है।

सार यह है कि जो प्राप्त ज्ञान दूसरों को देने के लिए तैयार नहीं रहता, वह ज्ञान के मार्ग को अवरुद्ध कर रहा है। परम्परा से चले आते ज्ञान के प्रवाह को सुखा डालने का प्रयत्न कर रहा है। भगवान् महावीर ने तो कहा है कि योग्य अधिकारी मिले, पात्र मिले और फिर भी जो अपने संचित ज्ञान को अर्पण न करे तो वह ज्ञान का चोर है और वह ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता है। इसका अर्थ यह है कि उसे आज जो शक्ति प्राप्त है, वह फिर नहीं मिलेगी। सिद्धान्त के नाते यह ठीक ही है। जो चोर होगा वह साहूकार नहीं होगा। चोर और साहूकार में एक प्रकार से विरोध है। कोई कितना ही ज्ञान प्राप्त करले अथवा धन जोड़ ले, किन्तु यदि उसकी चोरी कर रहा है तो,

इस जन्म में नहीं तो क्या हुआ, अगले जन्म में तो निश्चय ही उसे उससे वंचित होना पड़ेगा।

एक हाथ को महीने भर तक यों ही रहने दिया जाय और उससे कोई हरकत न की जाय तो फिर उसमें हल-चल नहीं होगी। वह हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह जायगा। जैसे शरीर का यह हाल है कि काम न करने से वह झूठा पड़ जाता है, यानी काम करने से इन्कार कर देता है, उसी प्रकार तुम्हें जो शक्ति मिली है, उसका उपयोग नहीं करोगे, यथा अवसर सक्रिय न रहोगे तो वह शक्ति भी झूठी पड़ जायगी और अगले जन्म में फिर वह मिलने वाली नहीं है।

इस चिन्तन को ध्यान में रखकर हमें अपने कर्त्तव्य को ठीक समय पर अदा करना है और अपनी शक्तियों का सदुपयोग करना है। जो धनपति है, उसे अपने धन का समाज के हित के लिए सदुपयोग करना होगा और जो ज्ञानवान् है उसे दूसरों को ज्ञान देना होगा। जो समाज-सेवक हैं, उन्हें अवसर आने पर समाज की सेवा करनी ही चाहिए।

जीवनक्षेत्र में अनेक शक्तियाँ हैं, एक ही शक्ति नहीं है। अतएव कोई यह न समझे कि मैं पढ़ा लिखा नहीं हूँ, धनवान् भी नहीं हूँ, तो क्या करूँ ? मैं कर ही क्या सकता हूँ ? मेरी शक्ति ही क्या है ? बहुत बार ऐसी ही भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं। और बहुत लोग अपने को दीन, हीन और असमर्थ मान कर निराश हो जाते हैं। सेवा की भावना

रखते हुए भी सेवा नहीं करते। मगर ऐसा सोचना योग्य नहीं है। कौन ऐसा मनुष्य है इस संसार में, जिसे समस्त शक्तियां प्राप्त हों ? प्रायः धनवान्, ज्ञानवान् नहीं होते और ज्ञानवान्, धनवान् नहीं होते। सभी धनवान् और ज्ञानवान् शारीरिक शक्ति से सम्पन्न नहीं होते। किन्तु कौन ऐसा मनुष्य है इस संसार में, जिसे एक भी शक्ति प्राप्त न हो ? प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई शक्ति तो होती ही है। शक्ति के अभाव में तो जीवन क़ायम ही नहीं रह सकता। अतएव जो जीवित है, उसमें कोई न कोई शक्ति भी अवश्य है। और ऐसी स्थिति में निराशा की क्या बात है ? तुम्हारे पास धन की शक्ति नहीं है तो न सही, विद्या की शक्ति नहीं है तो कोई चिन्ता नहीं, शरीर तो तुम्हारा शक्तिमान् है ? तुम्हें अगर शक्तिशाली शरीर नसीब हुआ है तो यह भी तुम्हारी एक बड़ी भारी शक्ति है ! इस शक्ति के द्वारा तुम समाज की सेवा कर सकते हो—समाज के काम आ सकते हो। फिर चिन्ता क्यों करते हो ?

कदाचित् तुम्हें सशक्त शरीर भी नहीं मिला है, तो भी निराश मत होओ। शरीर से भी बड़ी विराट और व्यापक शक्ति तुम्हें मन के रूप में मिली है। मन से तुम दूसरों के कल्याण की कामना कर सकते हो। इसी प्रकार वचन के द्वारा भी समाजसेवा के अनेक कार्य किए जा सकते हैं। अपने पवित्र व्यवहार और शुद्ध आचरण के द्वारा भी समाज के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करके सेवा कर सकते हो।

अभिप्राय यह है कि अगर आप सेवा न करने का कोई बहाना ही खोजते हैं, तब तो आप चोरी कर रहे हैं, और यदि आपके अन्तःकरण में सचमुच ही सेवाभाव का उदय हुआ है, तो आपके पास जो भी शक्ति है, उसी का सदुपयोग करो। अपनी शक्तियों का अपलाप न करो, बल्कि समस्त शक्तियों को, जो तुम्हें प्राप्त हैं, दूसरों के लिए प्रयुक्त करो।

मत समझो कि दूसरों के हितार्थ अपनी शक्तियों का व्यय करने से तुम शक्तिहीन हो जाओगे। जब तुम मुक्त मन से अपने आपको जनता के श्रेयस् के लिए अर्पित कर दोगे, तब देखोगे कि तुम्हारी एक-एक शक्ति सौ-सौ रूप ग्रहण कर रही है। तुम शक्तिहीन नहीं, अधिक शक्तिमान् बन रहे हो, तुम्हारी शक्तियों का ह्रास नहीं, विकास हो रहा है। वह हजार और लाख गुना होकर तुम्हारे सामने आ रही है।

भगवान महावीर का पथ संकीर्ण नहीं है। उस पर चलने के लिए न श्रीमन्त होना आवश्यक है और न पण्डित होना ही अनिवार्य है। वह जैसे श्रीमन्तों और पण्डितों के लिए है, वैसे ही, बल्कि उससे भी ज्यादा, अकिंचनों के लिए भी है।

भगवान् ने इसीलिए तो नौ पुण्य बतलाये हैं। एक भूखा आपके सामने आता है अथवा एक प्यासा आपके पास आता है। आप उसे भोजन और पानी दे देते हैं तो आप पुण्य का उपार्जन करते हैं। कोई नंगा और उघाड़ा है और उसका तन ढँकने के लिए आपकी सन्दूक में से एक वस्त्र बाहर आता है

तो भी आप पुण्य कमाते हैं और अपने लिए स्वर्ग का द्वार खोलते हैं। इस प्रकार अनेक पुण्य बतलाने के बाद गहराई में उतर कर भगवान् बोले—संभव है, कोई ऐसी स्थिति में हो कि अन्न, वस्त्र आदि का दान न कर सकता हो, स्वयं इनके अभाव में पीड़ित हो, तो वह पुण्य कैसे कर सकेगा ? अन्न और वस्त्र आदि का दाता तो इन्हें देकर पुण्य कमा लेगा, पर इन चीजों को लेने वाला दरिद्र किस प्रकार पुण्य उपार्जन कर सकेगा। क्या उसके लिए पुण्य का द्वार बन्द है ? नहीं, पुण्य का द्वार हरेक के लिए और हरेक परिस्थिति में खुला है। जिसके पास और कुछ भी देने को नहीं है, उसके पास भी आख़िर शरीर तो है ही और वह शरीर के द्वारा ही पुण्य का उपार्जन कर सकता है। बच्चा चलते-चलते ठोकर खा गया है तो उसे उठा दो। अन्धे को मार्ग बतला दो। किसी बीमार की सेवा करने के लिए कोई नहीं है तो आत्मीय जन समझ कर उसकी सेवा कर दो। यह काय-पुण्य है। मनुष्य का शरीर शक्ति का भंडार है, अगर सेवा के लिए उसका उपयोग किया गया तो यह भी बड़ा भारी पुण्य है।

वचन के विषय में पहले कहा जा चुका है। और कुछ भी न बन पड़े तो जीभ से गुणी जनों की प्रशंसा ही कर दो। पुण्यात्माओं की प्रशंसा करना भी पुण्योपार्जन का एक द्वार है—एक पुण्य है। अतएव जो पुण्यकार्य कर रहे हैं, उनका गुणगान करो। तुम्हारे प्रशंसा-वचन उसको आगे बढ़ने के

लिए प्रेरणा ही देंगे। यह भी पुण्य का काम है। कहा है—

वचने का दरिद्रता ?

बोलने में कृपणता क्यों करते हो ? प्रशंसा का एक वचन बोल दिया तो क्या ख़जाना खाली हो जायगा ?

और फिर तुम्हें मन भी प्राप्त है। मन में शुभ भावनाएँ और पवित्र संकल्प करो और बार-बार प्रभु के चरणों में प्रार्थना करो—

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

प्रभो ! मेरे मन में मंगलमय संकल्प ही जागृत रहें।

इस प्रकार जैनधर्म द्रव्य और भाव दोनों में ही चल रहा है। अतएव जिसके पास स्थूलशक्ति है, वह भी समाजसेवा कर सकता है और जिसके पास वह नहीं है वह भी सेवा कर सकता है।

तो, सेवा का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त है। फिर भी जो अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करता या ग़लत उपयोग करता है, वह ज्ञानियों की दृष्टि में अपनी शक्ति की चोरी करता है। जो इस प्रकार की चोरी से भी बचेंगे, वही वास्तव में अपनी आत्मा का उत्थान और कल्याण करेंगे।

ब्यावर,
२३-१०-५०।

विविध प्रश्न

अहिंसा और सत्य के पश्चात् अचौर्यव्रत भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण व्रत है। अचौर्यव्रत एक प्रकार से अहिंसा और सत्य की कसौटी है। अतएव उस पर भी सावधानी के साथ गंभीर तथा तलस्पर्शी विचार करना आवश्यक है।

अस्तेय का व्यवहार पक्ष भी बड़ा प्रबल है। वह मानव जीवन के प्रत्येक व्यवहार क्षेत्र में साधना की अपेक्षा रखता है। अतएव उसका प्रधान क्षेत्र वहीं है जहाँ मनुष्य दूकानदारी करता है या ऑफिस में काम करता है या जीवन-निर्वाह के लिए अन्यत्र कोई काम करता है। इस प्रकार अहिंसा और सत्य जीवन में अवतरित हुए हैं या नहीं, इस तथ्य की परीक्षा जीवनव्यवहार में ही होती है और उनकी परीक्षा की कसौटी अस्तेय है। जिसका

जीवन व्यवहार अस्तेयपूर्वक चल रहा है, समझा जा सकता है कि उसके जीवन में अहिंसा भी आगई है और सत्य भी आ गया है। इसके विरुद्ध जिस व्यक्ति के जीवन व्यवहार में अस्तेय नहीं है, जो चोरी करके, छल-कपट और बेईमानी करके, दूसरों को ठग करके और दूसरों के हित की सर्वथा उपेक्षा करके अपनी आजीविका चला रहा है, मानना पड़ेगा कि उसके जीवन में अहिंसा और सत्य का आविर्भाव नहीं हुआ है।

जैन धर्म जीवन के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कह रहा है वह यह कि क्या अहिंसा और क्या सत्य, जो भी साधना के अंग हैं, वे केवल घड़ी दो घड़ी के लिए नहीं हैं। अर्थात् यह नहीं कि किसी विशिष्ट काल में और किसी विशेष क्षेत्र में उनका पालन या आराधन कर लिया और छुट्टी पा ली! शेष ज़िन्दगी में उनका कोई स्थान नहीं है!

जैनधर्म यही कहता है कि मनुष्य जहाँ कहीं भी है, जैसी भी स्थिति में है, वहीं उसे अहिंसा और सत्य की साधना करनी है। फलतः वह जहाँ कहीं भी जीवन व्यवहार के संघर्ष में लगा है वहीं उनका पालन कर सकता है।

जो मनुष्य अचौर्यव्रत को ग्रहण कर लेता है, चोरी को छोड़ देता है उसके जीवन में अहिंसा और सत्य का रूप अपने आप शुद्ध होने लगता है। क्योंकि जब किसी भी तरह से अपना उल्लू सीधा नहीं करना है और धोखा देकर नहीं कमाना है, तो हिंसा और असत्य अपने आप ढीले पड़ जाएँगे। वहाँ

क्रूरता या छलछँद्र का दुर्भाव कैसे रह सकता है ?

इसीलिए इस अस्तेय व्रत को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है, जितना कि अहिंसा और सत्य के व्रत को ! अहिंसा और सत्य व्रत की रक्षा अचौर्यव्रत के द्वारा ही हो सकती है। यदि मनुष्य ईमानदार है, जैसी वस्तु है उसका उसी रूप में व्यवहार करता है, ज्यादा नफ़ा लेकर दूसरे का गला नहीं काटता है, और प्रामाणिकता पूर्वक दूसरे सभी काम भी करता है, अर्थात् सावधानी के साथ अचौर्यव्रत का पालन करता है तो उसके अहिंसा और सत्य व्रत भी सुरक्षित हो जाते हैं।

इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि मैंने यह सब सुना दिया और आप सबने वह सब कुछ सुन लिया, बस सब काम पूरा हो गया। बात तो वास्तव में यह है कि जब तक आप जीवन में इस व्रत का उपयोग नहीं करेंगे। तब तक अपने जीवन को प्रगति के पथ पर नहीं डाल सकेंगे। जीवन में महत्ता प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

पहले की तरह आज भी विचारकों के कुछ प्रश्न हमारे सामने हैं। व्याख्यान, व्याख्यान है, रिकार्ड बजना नहीं। रिकार्ड एक बार चढ़ा दिया तो अविराम गति से बजता रहता है। उसको बीच में रोकना चाहें और कहें कि जरा ठहरो, हमें विचार करना है, तो वह ठहरेगा नहीं। मैं रिकार्ड की तरह व्याख्यान नहीं देना चाहता कि बजता रहूँ, लगातार बोलता ही जाऊँ और बीच में कोई पूछने जैसी बात आ जाय तो बस खेल खत्म हो जाय ! व्याख्यान का उद्देश्य यही है कि हमें

प्रत्येक टॉपिक पर, हरेक मुद्दे पर विचार और चिन्तन करना चाहिए। यही चीज़ व्याख्यान कहलाती है। अतएव अस्तेय के सम्बन्ध में, हमारे सामने जो प्रश्न प्रस्तुत हुए हैं, उन पर भी आज हमें विचार कर लेना चाहिये।

पहला प्रश्न है—कोई मनुष्य दूकान करता है और उस हालत में दूसरी दूकान से या किसान के घर से माल लाता है। तो ज्यादा तोल कर ले आता है, डंडी मारता है और जितने माल के पैसे देता है, उससे अधिक माल तोल कर ले आता है।

दूसरा मनुष्य वह है कि जिसके यहाँ कोई ग्राहक जाता है तो वह कम तोल देता है। मतलब यह है कि ग्राहक ने जितने माल के पैसे दिये हैं, उसे उतना माल मिलना चाहिए, परन्तु वह उससे कम देता है। वह वायदा करता है कि इस भाव में दूंगा; और जब देता है तो कम तोलता है।

तीसरा आदमी बाँट भी खोटे रखता है। देने के लिए दूसरे और लेने के लिए दूसरे रख छोड़ता है। देते समय छोटे और घिसे हुए बांटों का उपयोग करता है और लेते समय बड़े और भारी बाँटों का उपयोग करता है। इसी प्रकार नाप भी छोटे-बड़े रखता है।

चौथा मनुष्य है जो रात्रि में, गलती से आये हुए जाली सिक्कों को अनजान बच्चों या बहिनों में चला देता है।

पाँचवा आदमी 'ब्लेक मार्केट' करता है।

छठा मनुष्य एक बड़ा सट्टेबाज़ है। वह अपनी पूँजी के

बल से बाज़ार के भावों को एकदम घटा-बढ़ा देता है। वह एकदम खरीदता जाता है और भाव बढ़ा देता है और फिर बेचते-बेचते भाव को गिरा देता है और बाज़ार में उथल-पुथल मचा देता है और हज़ारों छोटे व्यापारियों की ज़िन्दगी को खत्म कर देता है। यहाँ (ब्यावर में) तो इतना ज्यादा असर नहीं पड़ता है, किन्तु बम्बई और कलकत्ता जैसे बड़े शहरों में बड़े-बड़े सटोरिये ऐसा ही किया करते हैं।

प्रश्न यह है कि इन सब रूपों में चोरी समझी जाय या नहीं? चोरी का स्वरूप अदत्तादान बतलाया गया है, अर्थात् किसी की वस्तु उसके दिए बिना ले लेना चोरी है। और ऊपर जो रूप बतलाये गये हैं, उनमें साधारणतया इस प्रकार का आदान समझ में नहीं आता। अतएव स्वभावतः बहुत लोगों के मन में यह आशंका उत्पन्न होती है कि इन्हें अदत्तादान समझा जाय या नहीं?

मगर जहाँ तक जैनशास्त्रों का सम्बन्ध है और उनकी जानकारी का प्रश्न है, यह सब रूप चोरी के ही अन्तर्गत हैं। जैन शास्त्रों में स्पष्ट कहा है :—

'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपक व्यवहाराः।'

—तत्त्वार्थसूत्र।

अर्थात् चोर को चोरी करने का उपाय बतलाना, चोर द्वारा चुराई हुई चीज़ को ग्रहण करना, राजकीय मर्यादा का

उल्लंघन करना, छोटे-बड़े नाप-तोल रखना और मिलावट करके व्यापार करना या अच्छी चीज़ की बानगी दिखाकर बुरी चीज़ दे देना, यह सब अस्तेय व्रत के अतिचार हैं; अर्थात् एक प्रकार की चोरी हैं।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी है। प्रत्येक व्रत के हमारे यहाँ पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अतिचार पाँच ही होते हैं और पाँच से ज्यादा नहीं हो सकते। पांच की संख्या तो मात्र उपलक्षण है।

उपलक्षण तो आप समझते हैं? एक आदमी कटोरे में दूध रखकर किसी काम से अन्यत्र जा रहा है। वह वहीं के बैठे हुए दूसरे साथी को कह जाता है—देखना भाई, मैं अभी आता हूँ; बिल्ली आकर दूध न पी जाए। इतना कह कर वह आदमी चला जाता है। उसके चले जाने के बाद बिल्ली तो नहीं, पर कुत्ता आता है और दूध की ओर लपकता है। अब आप सोचें कि दूध के पास बैठा हुआ मनुष्य उस कुत्ते को रोकेगा या नहीं? स्मरण रखना है कि दूध वाले ने, जाते समय, बिल्ली का नाम लेकर दूध की रखवाली रखने की बात कही थी। उसने कुत्ते से बचाने को नहीं कहा था। तब वह मनुष्य दूध की रक्षा के लिए कुत्ते को भगाये या नहीं? प्रश्न दूध का है और इसलिए कठिन नहीं है। आप समझ जाएँगे और कहेंगे कि कहने वाले ने भले 'बिल्ली' कहा हो, पर उसका आशय तो कुत्ते से भी बचाने का है। दूध को क्षति पहुँचाने वाले, बिगाड़ने वाले जितने भी जीव

जन्तु हैं, उन सब का समावेश 'बिल्ली' में हो गया है।

तो बस, इसी को कहते हैं उपलक्षण। बात भले ही एक कही गई हो, परन्तु जहाँ उसके समान और-और बातों का भी ग्रहण होता है, वह उपलक्षण कहलाता है।

व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार भी उपलक्षण हैं। उनमें से प्रत्येक अतिचार में अनेक तत् सदृश बातों का समावेश होता है। अतएव जो व्यवहार साक्षात् अदत्तादान-रूप न हो और जिस का उल्लेख उसके पाँच अतिचारों में न हो, वह भी अगर अस्तेय व्रत की भावना के प्रतिकूल है, उसमें अप्रामाणिकता और बेईमानी है, तो वह अदत्तादान में ही गिना जायगा।

उदाहरण के लिए 'ब्लेक मार्केट' को ही ले लीजिए। ब्लेक मार्केट इस युग की देन है। प्राचीन युग में वह नहीं होता था। अतएव अदत्तादान के अतिचारों में उसका साक्षात् उल्लेख नहीं है, फिर भी है तो वह चोरी ही। जैनशास्त्रों से अनभिज्ञ लोग भी उसे 'चोर बाज़ार' ही कहते हैं। यदि यह अतिचार उपलक्षणरूप न माने जाएँ तो 'ब्लेक मार्केट' को हम चोरी में शुमार नहीं कर सकते और तब क्या उसे साहूकारी का धंधा मानेंगे? जिसे सारी दुनिया चोरी का धंधा कहती है, उसे हम साहूकारी का धंधा मानेंगे तो गज़ब हो जायगा! यह तो जैनधर्म पर अमिट कलंक होगा।

हाँ, तो ऊपर बतलाये हुए रूपों में चोरी है, इस कथन में किसी को विवाद और संशय नहीं होना चाहिए। अस्तेय व्रत

सम्बन्धी अतिचारों के वर्णन में उल्लेख है कि भाव किसी और वस्तु का किया है और बेची कुछ और ही वस्तु है तो यह चोरी की दृष्टि है, अतः यह व्यवहार चोरी में ही शामिल है।

अनजान में जो चीज़ हो जाती है, वह तो दूसरी बात है, किन्तु जान-बूझ कर, दूसरे को धोखा देकर जो कमाई की जा रही है, वह जैनधर्म की दृष्टि में चोरी ही मानी जाती है।

चोरी के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है, पर स्थूल चोरी किसे समझा जाय और सूक्ष्म चोरी किसे कहा जाय ? आम तौर पर श्रावक के लिए त्याज्य स्थूल चोरी को व्याख्या यह समझी जाती है कि जिसे 'राज दन्डे और लोक भाँडे' वही स्थूल चोरी है।

मैं समझता हूं, जिस चोरी को राज्य अपराध समझता है और लोग निन्दनीय समझते हैं, वह तो स्थूल चोरी है ही, किन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। आजकल के बाज़ार में और व्यवहार में ऐसी चीजें चल रही हैं, जिनके लिए राजा दंड भी नहीं देता और जिनकी सर्वसाधारण लोग निन्दा भी नहीं करते फिर भी उन्हें सूक्ष्म चोरी नहीं कह सकते।

बाज़ार के भावों को ऊँचा-नीचा कर देना और हज़ारों का शोषण करके अपना पेट भर लेना, क्या स्थूल चोरी नहीं है ? इससे हज़ारों छोटे-छोटे सटोरिये मारे जाते हैं और एक बड़ा सटोरिया लाखों एकदम समेट लेता है ! यह स्थिति होने पर भी उसे न राजा दण्ड देता है और न चोर के रूप में समाज ही उसे

भाँड़ता है! मगर आप न्याय कीजिए कि हजारों व्यापारियों को मुसीबत में डाल देना, क्या स्थूल चोरी नहीं है ?

जिससे जनता पर बड़ा भारी कुप्रभाव पड़ता हो, जिसमें निर्दयता का भाव हो, उसे चाहे राज दन्डे या न दन्डे, लोक भाँडे या न भाँडे, फिर भी उसकी गणना स्थूल चोरी में ही की जाती है।

चोरी के सम्बन्ध में तीसरी जो बात है, उसका सम्बन्ध व्यापारियों से नहीं, साहित्यिकों से है। किसी साहित्यकार ने एक ग्रन्थ बनाया है अथवा कविता लिखी है। दूसरे सभी लोग न वैसा ग्रंथ लिख सकते हैं, न वैसी कविता रच सकते हैं। तब वे उस ग्रंथ या कविता में से कुछ भाग चुरा लेते हैं और एक नयी-सी चीज़ तैयार कर लेते हैं। जिस ग्रन्थ से वह लिया गया है, उस ग्रंथ का या उसके लेखक के नाम का उल्लेख नहीं करते हुए अपने नाम से उसे प्रकाशित करा देते हैं, यह भी चोरी है अथवा नहीं ?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यही है कि ऐसा करना भी चोरी है। यहाँ तो साफ़ ही अदत्त का आदान किया जा रहा है। केवल यह समझना आवश्यक है कि चोरी का मतलब सिक्के, नोट, कपड़ा, जेवर या अन्न ही चुराना नहीं है, बल्कि किसी दूसरे के हक़ की कोई भी वस्तु हड़प लेना, छीन लेना, छुपा लेना और अपनी बना लेना भी चोरी ही है।

यह चोरी भी आजकल ख़ूब चलती है। लोगों को अक़सर

मालूम नहीं पड़ता कि यह चीज़ मूलतः किसकी है ? बड़ी चतुरता से दूसरा उसे अपने नाम से प्रकट और प्रकाशित कर देता है और जनसाधारण में वाहवाही लूटता है। जिसकी चीज़ ली है, उसका यदि उल्लेख कर दिया जाय, तो चोरी से बचा जा सकता है, किन्तु ऐसा न करके उसे अपनी चीज़ के रूप में प्रकट करना तो सीधी चोरी ही है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि ख़ुद में तो लिखने की योग्यता नहीं होती, पर लेखक कहलाने की महत्वाकांक्षा रोकी भी नहीं जाती। तब वह दूसरे से लिखा लेता है और अपने नाम से प्रकट करा देता है। यह भी सिद्धान्त की दृष्टि से चोरी है।

अपने विचारों में बल नहीं है, शक्ति नहीं है, तो मनुष्य को दूसरों के विचारों से लाभ उठाना चाहिए, परन्तु उसे प्रामाणिकता-पूर्वक ही ऐसा करना चाहिए। अपने ग्रंथ में दूसरे के विचारों का या वाक्यों का उल्लेख करना या उदाहरण देना कोई बुराई नहीं है, बल्कि कभी-कभी तो ऐसा करना आवश्यक होता है और ऐसा करने से उस ग्रंथ में सुन्दरता आ जाती है, परन्तु दूसरे के लेख को अपना ही लेख बना कर प्रकाशित करना उचित नहीं है।

व्यापारी चोरी करके सिक्के इकट्ठा करता है और लेखक चोरी करके प्रतिष्ठा और गौरव प्राप्त करना चाहता है। बात एक ही है। सिद्धान्त की दृष्टि में यह नाम की चोरी है।

इसी प्रकार बड़े-बड़े अधिकारी या छोटे-छोटे कर्मचारी,

किसी गद्दी पर बैठकर काम करते हैं और उस काम के लिए वेतन पा रहे हैं, किन्तु अपने कर्तव्य को, ईमानदारी के साथ, पूरा नहीं करते। जितना परिश्रम करना चाहिए, उतना करने से जी चुराते हैं और अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह से पालन नहीं करते और इधर-उधर की गप्पों में समय नष्ट कर देते हैं, तो सिद्धान्त की दृष्टि से यह भी चोरी है। चोरी का सम्बन्ध सिर्फ़ दूकानदारी के साथ नहीं है। मनुष्य किसी भी क्षेत्र में कोई भी काम क्यों न करता हो; यदि उसे प्रामाणिकता के साथ नहीं करता है तो वह स्पष्टतः चोरी करता है।

आज सब ओर रिश्वत का बाज़ार गर्म है। जहाँ देखो वहीं छीना झपटी हो रही है। किसी को दूर का टिकट लेना है तो रिश्वत चाहिए। मालगाड़ी से माल भेजना है तो घूँस चाहिए। मकान बनवाना है, किन्तु आज्ञा नहीं मिल रही है, रिश्वत चाहिए ! मारपीट हुई है और थाने में रिपोर्ट लिखवानी है, मगर रिश्वत दिए बिना ठीक तरह रिपोर्ट नहीं लिखी जायगी।

इस प्रकार सब जगह घूंस का बोलबाला है। उसकी व्यापकता ने भारत के नैतिक बल को क्षीण कर दिया है और मनुष्यता का ह्रास होता चला जा रहा है।

अभी-अभी प्रश्न चल रहा था कि व्यापारी कहते हैं—सरकार हमारा साथ नहीं देती और सरकार कहती है—व्यापारी हमारा साथ नहीं देते। व्यापारी जब रिश्वत देकर आता है तो सोचता है

मुझ पर यह जो व्यर्थ का वजन पड़ गया है, तो अब उसे हल्का करना ही होगा। जो थैली खाली हो गई है, उसे फिर भरनी होगी और ऐसी धारणा मन में धारण कर वह काला बाजार करता है। और काला बाजार चोरी है—तो यह रिश्वत भी क्या चोरी नहीं है? छोटे और बड़े अधिकारी, कमती या ज्यादा, जो भी रिश्वत ले रहे हैं वह भी चोरी है और यह श्रावक के लिए त्याज्य है।

महेन्द्रगढ़ के लाला ज्वालाप्रसाद जी को आपमें से बहुत लोग जानते होंगे। उनकी मोटरें जब कभी इधर-उधर जातीं तो उन्हें कोई रोकता नहीं था, फिर भी वे चुंगी-चौकी पर खड़ी हो जाती थीं। जब खड़ी हो जाती तो ड्राइवर से पूछा जाता—क्या है? ड्राइवर कहता—पूछने की क्या बात है, आप स्वयं आकर देख लीजिए। मगर चुंगी वाला उनकी मोटर देखने न आता। लाला जी की प्रामाणिकता की चुंगी के अधिकारी के मन पर ऐसी गहरी छाप थी! इस छाप का एक मात्र कारण यही था कि लालाजी कभी चुंगी की चोरी नहीं करते थे। उन्होंने अपने कर्मचारियों को भी ऐसी ही हिदायत कर रक्खी थी। पर आज देखते हैं कि करोड़पति भी चुंगी की चोरी करते हैं और जब कभी पकड़ में आ जाते हैं तो सारी कसर निकल जाती है। चुंगी की चोरी करना भी स्थूल चोरी है। अस्तेयव्रती न कभी ऐसी चोरी करेगा और न घूंस खाकर करने देगा। वह न रिश्वत लेगा, न देगा।

इस प्रकार जो विवेक-पूर्ण जीवन-व्यवहार करेगा, उसी का जीवन पवित्र और उज्ज्वल बनेगा और वही भगवान् महावीर की

दृष्टि में ऊँचा उठा माना जायगा।

तात्पर्य यह है कि चोरी के अनेक रूप हैं और उन अनेक रूपों को विवेकशील पुरुष का अन्तःकरण भली प्रकार से जान भी जाता है। ऐसा करते समय वह अन्दर में इन्कार भी करता है; मगर उसके हटकने पर भी जो नहीं मानता, वह अपने हृदय की हत्या करता है।

प्रासंगिक रूप में एक प्रश्न और उपस्थित होता है—एक आदमी अन्याय से पैसा पैदा करता है और साथ ही दान भी देता है, तो क्या यह धर्म माना जाय ?

इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें हैं। पहली यह कि, एक आदमी अज्ञानवश धन इकट्ठा करता रहा है, ऐसा करने में उसने न्याय और अन्याय को नहीं जाना है; किन्तु एक दिन संतसमागम से, सत्साहित्य के अध्ययन से अथवा किसी ज्ञानवान् के सम्पर्क से उसके अन्तःकरण में विवेक जागा, सद्‌भावना जागी और वह सोचने लगा—मैंने अन्याय से, अत्याचार से, चोरी से या ब्लेक मार्केट से धन का संचय कर लिया है, यह बड़ा गुनाह किया है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उसमें से कुछ धन जनता के हित में लगा दूँ।' अगर किसी में इस प्रकार की बुद्धि जागी है तो मैं समझता हूँ कि यह बड़ा भारी धर्म है।

मूल्य पैसे का नहीं, भावना का है। पैसा किधर से भी आया, किन्तु आया है और उसके आने के बाद यदि शुभ भावना जागी है और पैसे वाला पश्चात्ताप करता है कि बड़ा भारी पाप हो

गया है, और उसके प्रायश्चित्त के रूप में वह जनता की सेवा में उसे अर्पित कर देता है; तो यह जीवन की महत्ता है। उसका अर्पण धर्म है, अधर्म नहीं है। यह नहीं कि इस प्रकार पाप से आये हुए पैसे का दान करना दान ही नहीं है!

इस प्रसंग पर एक घटना याद आ गई। एक बार हम विहार करके जा रहे थे। गर्मी तेज़ थी और धूप कड़ी थी। मार्ग में एक निवास मिला, आस-पास हरे-भरे सघन वृक्ष भी थे। हम विश्रान्ति के हेतु वहाँ बैठने लगे तो कुछ लोगों ने कहा—'महाराज! यहाँ मत बैठिए।'

मैंने पूछा—'क्या बात है भाई?'

वे आपस में फुस-फुस करने लगे और फिर एक ने कहा—महाराज, यह निवास एक वेश्या ने बनवाया है और यह पेड़ भी उसी ने लगवाए हैं। अतएव यहाँ बैठना पाप है।'

मैंने पूछा—उस वेश्या का जीवन कैसा है? तब उसने कहा—पहले तो उसका पापमय जीवन था; किन्तु बाद में शायद यह सोचकर कि मैंने बहुत गुनाह किये हैं, ज़िन्दगी को बर्बाद कर लिया है। उसने अपना वेश्या का धंधा छोड़ दिया और प्रभु-भजन में लग गई। उसके पास जो पैसा था, उससे यहाँ यह कार्य किया है।

यह सुनकर मैंने कहा—यदि उसका जीवन बदल गया, विचार बदल गये और अपने पहले के गुनाहों के लिए उसके हृदय में पश्चाताप का भाव उत्पन्न हुआ, फलतः उसने

प्रायश्चित्त किया, तो तुम क्या चाहते हो? क्या उसे धर्म नहीं करने देना चाहते?

इसके बाद मैंने फिर कहा—बात यह है भाई, कि पैसा किसी भी तरह आया हो, किन्तु यदि वह सद्बुद्धि से उस धन का इस रूप में खर्च करता है तो कोई बैठे या नहीं, मैं तो बैठूँगा ही। एक बार किसी ने बुराई कर ली तो उसके बाद के बदले हुए पवित्र जीवन के सत्कर्मों को भी गुनाह ही समझना और पाप कहना, किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

सद्बुद्धि जागृत होने पर, पैसा जिससे आया हो, उसे लौटा दिया जाय तो अच्छा है। अगर लौटाने की व्यवस्था नहीं हो सकती तो उसका प्रायश्चित कर लेना भी ठीक है।

हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। कोई आदमी एक ओर तो चोरबाजारी करता जा रहा है, अनीति से अपनी तिजोरियाँ भरता जा रहा है और उधर कुछ पैसे धर्म के काम में लगा रहा है, और फिर भी वही अनीति करता चला जा रहा है, इस प्रकार एक तरफ़ गुनाह हो रहा है और दूसरी तरफ़ प्रायश्चित्त भी हो रहा है तो सिद्धान्त की दृष्टि से यह वास्तविक प्रायश्चित नहीं है। जिसे गुनाह से वास्तव में नफ़रत हो जायगी, वह प्रायश्चित्त करेगा तो फिर दुबारा लौटकर गुनाह नहीं करेगा। कम से कम जानबूझ कर तो नहीं ही करेगा। और जो प्रायश्चित्त के पश्चात् भी पूर्ववत् निःसंकोच भाव से गुनाह करता जा रहा है, उसका प्रायश्चित्त कोरा ढोंग

है, समाज में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का ढंग है, अपनी अनीति पर धर्म का पालिश चढ़ाना है। यों तो बड़े-बड़े डाकू भी एक ओर लूटते रहते हैं और दूसरी ओर ब्राह्मण-भोज कराया करते हैं। और ठाकुर जी का मन्दिर भी बनवाते जाते हैं। मगर जैनधर्म की दृष्टि में यह धर्म नहीं है।

इस भाव को व्यक्त करने के लिए हमारे यहाँ एक कथा आती है। एक बार कुछ साधु किसी कुम्हार के घर पर ठहरे हुए थे। पास में कच्चे घड़े धूप में सूख रहे थे। कुतूहल-वश एक क्षुल्लक साधु ने कंकर उठाया और एक घड़े में मार दिया। घड़े में छेद हो गया। यह देख कुम्हार ने उसको उपालम्भ दिया। क्षुल्लक साधु ने कहा—'मिच्छा मि दुक्कडं।' बात रफ़ादफ़ा हो गई। कुम्हार ने पीठ फेरी और क्षुल्लक साधु ने दूसरा कंकर उठाकर दूसरे घड़े में दे मारा। कुम्हार ने उसे फिर उलाहना दिया। उसने फिर वही वाक्य दोहरा दिया—'मिच्छा मि दुक्कडं।'

कुम्हार कुछ सोचकर कर शान्त रह गया, मगर साधु शान्त न रह सका। उसने तीसरी बार कंकर उठा कर तीसरे घड़े को फोड़ दिया।

कुम्हार ने फिर सोचा—यह हज़रत यों मानने वाले नहीं। इनकी 'मिच्छा मि दुक्कडं' तो मुझे बर्बाद कर देगी।

यह सोच कर कुम्हार उसके पास आया और उसका कान पकड़ कर जोर से ऐंठ दिया।

जब साधु ने ऐसा करने का विरोध किया तो कुम्हार ने कहा 'मिच्छा मि दुक्कडं।' और इतना कह कर फिर कान ऐंठा और फिर 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहा।

साधु समझ गया कि इस प्रकार का 'मिच्छा मि दुक्कडं' कोई मूल्य नहीं रखता। अन्तःकरण से प्रायश्चित्त करने वाला फिर जान-बूझ कर गुनाह नहीं करेगा।

इसी प्रकार का एक और प्रश्न भी उपस्थित होता है। किसी ने अनीति से पैसा कमाया है, या कमा रहा है, उसके यहाँ किसी ने भोजन कर लिया। भोजन करने वाले को यह बात मालूम नहीं है, और सम्भव है, मालूम होने पर भी नातेदारी की वजह से या किसी सम्बन्ध के कारण खा लेता है, तो प्रश्न है कि उस भोजन करने वाले व्यक्ति को उसकी अनीति के किसी अंश का कुफल भोगना पड़ेगा या नहीं ?

मैं समझता हूँ कि इस विचार में सचाई नहीं है। बात यह है कि संसार बहुत विराट है, अतः कौन क्या कर रहा है, यह जान लेना बड़ा कठिन है। ऐसी स्थिति में एक भूखा आता है और भोजन कर लेता है, कोई प्यासा आकर पानी पी लेता है या साधु जाकर आहार-पानी ले आता है, तो इससे उसके पाप का अंश आहार-पानी लेने वाले को भी लगता है; यह चिन्तन न्यायमूलक नहीं है। अन्याय से पैसा पैदा करने वाले का जो समर्थन और अनुमोदन नहीं करता, जो उससे अलग है और जो अनजान में चला गया है और यथावसर कुछ खा-पी लेता है, वह उसके पाप

के अंश का भागी हो, यह एकान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परन्तु शायद यह बात आपके ध्यान में नहीं आएगी; क्योंकि कहा है—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी॥

परन्तु इस उक्ति पर शान्ति के साथ विचार करना चाहिए। वास्तव में चोर का अन्न कौन खाता है? जो चोरी करके लाया है और डाका डाल कर लाया है, उसका अन्न उसके परिवार वालों को मिलता है और उन्हीं के लिए यह उक्ति चरितार्थ होती है। चोर और डाकू के परिवार वाले उसकी चोरी और डकैती का अनुमोदन करते हैं। वह परिवार एक गिरोह के रूप में है। उन्हीं के लिए वह पैसा और अन्न आया है और वे भली-भांति जानते हैं कि यह किस प्रकार आया है? अतएव वे जैसा अन्न खाते हैं वैसा ही उनका मन हो जाता है। यहाँ यह सिद्धान्त ठीक है। किन्तु चोर अपने लिए चोरी कर रहा है और एक सन्त, जिन्हें उसकी आजीविका के विषय में जानकारी नहीं है, उसके यहां पहुँच जाते हैं और भिक्षा ले आते हैं, अथवा कोई गृहस्थ, जो उसकी बुराई का समर्थक नहीं है और जिसमें चोरी का कोई भाव नहीं है, उसके घर कारणवश भोजन कर लेता है, तो उस चोर का पाप उन संत और उस गृहस्थ को चिपट जायगा, यह जैन सिद्धात नहीं कहता। जैन सिद्धान्त यह भी नहीं कहता कि उसका अन्न खाने के कारण उनके मन में भी चोरी करने के विचार उत्पन्न

हो जाएँगे।

पापी का अन्न अगर बुरे विचार उत्पन्न करता है तो धर्मात्मा का अन्न अच्छे विचार उत्पन्न करेगा। तब तो जनता के विचारों को सुधारने का सस्ता नुस्खा हाथ लग गया! किसी धर्मात्मा के घर से लाए आटे की गोलियाँ बनालो और सब को बाँटते चलो। लोग खाते जाएँगे और अच्छे विचार वाले बनते जाएँगे। क्या यह बात आपके दिमाग़ को अपील करती है? क्या किसी भी सिद्धान्त से इसका समर्थन होता है?

अन्न के पीछे दुर्भावनाओं का जो संग्रह है, वही पाप को पैदा करता है, उस अन्न या पानी में पाप नहीं है, जिससे कि हमारे पेट में पाप का कचरा चला जाय! इस प्रकार पाप लगने लगें तो किसी के भी ऊँचे विचार नहीं टिक सकते।

अन्न को इतना महत्त्व मिला है कि जात पाँत में भी वह विशेष महत्त्व की चीज़ बन गया है। वैदिक साधुओं में दंडी संन्यासी होते हैं। वे भिक्षा के लिए केवल ब्राह्मण के घर ही जाते हैं। उसके घर के अन्न को ही शुद्ध अन्न मानते हैं और कहते हैं—यह अन्न विचारों और भावनाओं को शुद्ध करेगा। दूसरों के यहाँ का अन्न ठीक नहीं है। उनके यहाँ का खाया हुआ अन्न हमारे विचारों को अशुद्ध बना देगा।

इस प्रकार अन्न के प्रश्न को लेकर जात-पाँत का भेद भाव बड़ा विकट रूप धारण कर गया है, उसकी जड़ें लोक मानस में बहुत गहराई तक जा पहुँची हैं।

एक कहानी प्रचलित है। किसी सन्त ने सुनार के यहाँ से अन्न ला कर खा लिया तो उसके मन में चोरी के विचार आने लगे। जब उसने अपने विचारों के कारण को सोचा तो मालूम हुआ कि वह सुनार के यहाँ से अन्न लाया था और यह उसी अन्न का प्रभाव है कि उसके मन में ऐसे गंदे विचार उत्पन्न हुए हैं। और उसने उसी समय उल्टी कर उस अन्न को पेट के बाहर निकाल दिया। बस, उसको अच्छे विचार आने लगे।

ठीक है, यह एक कथा है; मगर इस कथा में कोई वैज्ञानिक तथ्य नहीं है। जात-पांत की संकीर्ण मनोभावना ही इसकी पृष्ठभूमि है। किन्तु किसी जाति के सभी लोग समान आचार-विचार वाले नहीं होते। कोई-कोई ब्राह्मण भी चोरी करते हैं, कई क्षत्रियों के यहाँ भी न जाने कितने अन्याय का अन्न आता है, और दूसरों में भी कोई किसी तरह और कोई किसी तरह अन्न लाता है। जहाँ कहीं भी वह बुरी भावनाओं से लाया और खाया जा रहा है वह उसी परिवार के विचारों को बर्बाद करता है। दूसरे अज्ञात व्यक्तियों को खाने मात्र से ही पापी या दुराचारी बनाता हो, यह बुद्धि संगत नहीं है। अगर इस प्रकार से विचार बुरे होने लगें तो धर्मात्मा के घर से ठेका कर लिया जाय। और जैसे मछलियों को राम-नाम की गोलियाँ डाली जाती हैं, उसी प्रकार सब को धर्मात्मा के घर के अन्न की गोलियाँ खिला कर धर्मात्मा बना दिया जाय।

हां, अगर कोई साधु जान-बूझ कर चोरी का अन्न खाता

है, तो वह ग़लत चीज़ है। किन्तु जो उस चोरी के समर्थन में नहीं है, उस पर भी कोई बुरा प्रभाव पड़ता है, यह कोई सिद्धान्त नहीं है।

एक प्रश्न यह भी है कि जो व्यक्ति, समाज को देता तो कम से कम है, और समाज से लेता अधिक से अधिक है, वह चोरी करता है या नहीं ?

प्रश्न ठीक है और इसका उत्तर यही है कि मनुष्य जीवन ऐसा जीवन है कि उसमें कम से कम लिया जाय और अधिक से अधिक दिया जाय।

थोड़ी देर के लिए ऐसे समाज की कल्पना कीजिए, जिस का प्रत्येक व्यक्ति लेना अधिक चाहता हो, परन्तु देना न चाहता हो, क्या ऐसा समाज कभी सुखी और सन्तोषयुक्त बन सकता है ? नहीं, ऐसे समाज में शीघ्र ही असन्तुष्टि की ज्वालाएँ भड़क उठेंगी और प्रत्येक व्यक्ति की सुख-शान्ति ख़तरे में पड़ जाएगी। इसके विपरीत, जिस समाज के व्यक्ति लेना कम और देना अधिक चाहेंगे, वही समाज सुखी बन सकेगा।

अचौर्यव्रत बहुत महत्वपूर्ण है और देश, समाज तथा व्यक्ति के जीवन के उत्थान में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। अगर हम अपने जीवन की छोटी-छोटी बातों को भी ध्यान में रक्खें तो मालूम होगा कि यह भी चोरी है और वह भी चोरी है, यहाँ भी चोरी है और वहाँ भी चोरी है। और इस प्रकार सारे राष्ट्र का जीवन चोरी से लथपथ है। यों तो मनुष्य में चोरी

की वृत्ति चिरकाल से ही चली आ रही है, परन्तु मेरा ख्याल है, पिछले कुछ वर्षों से यह वृत्ति हमारे देश में बड़ी तेजी के साथ बढ़ी है। चोरी के पिछले कई रूपों को बेहद उत्तेजना मिली है, जैसे रिश्वत खोरी और 'ब्लेक मार्केट' को। खेद की बात तो यह है कि अनेक बड़े-बड़े पूंजीपति इस चौर्यवृत्ति के सबसे अधिक शिकार हो रहे हैं। मैं इस अवसर पर चेतावनी देना चाहता हूं कि यह वृत्ति राष्ट्र के लिए कल्याणकारी नहीं है। यह वृत्ति तो हमारे भविष्य का बहुत ही ग़लत ढंग पर निर्माण कर रही है। इसकी बदौलत देश तबाह हो सकता है और यदि समय रहते सुधार न कर लिया गया तो निश्चय ही निकट-भविष्य में एक भीषण उथलपुथल मचने वाली है, जिसमें हमारी सारी व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ धराशायी हो जाएंगी। राष्ट्र और समाज के कर्णधारों को अविलम्ब इस अचौर्यवृत्ति का उन्मूलन करना होगा, तभी राष्ट्र और समाज का मंगल सम्भव है।

ब्यावर,
३-११-५०।